अखिलभारतीय–प्राच्यविद्यासम्मेलनम्
शतवर्षमहोत्सवग्रन्थमाला–४१

मधुराद्वैताचार्य श्री गुलाबराव महाराज के

योग विचार

डॉ. कृष्ण माधव घटाटे

प्रधानसंपादकः
आचार्यः श्रीनिवासः वरखेडी
कुलगुरु

संपादकः
आचार्यः मधुसूदनः पेन्ना
संचालकः संशोधन–प्रकाशनविभागः



राष्ट्रहिताय संस्कृतम्

कविकुलगुरु–कालिदास–संस्कृत–विश्वविद्यालयः
रामटेकम्, जि. नागपुरम् (महाराष्ट्रम्)
तथा
न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन, नव देहली
2020

अखिल भारतीय प्राच्य विद्यासम्मेलनम्
शतवर्ष महोत्सव ग्रन्थमाला – 41

मधुराद्वैताचार्य श्री गुलाबराव महाराज के

योग विचार

डॉ. कृष्ण माधव घटाटे

प्रधानसंपादक
आचार्य श्रीनिवास वरखेडी
कुलगुरु

संपादक
आचार्य मधुसूदन पेन्ना
संचालक, संशोधन व प्रकाशन विभाग



कविकुलगुरु कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय
रामटेक, जि. नागपुर (महाराष्ट्र)
एवं
न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन, दिल्ली

शीर्षक	–	मधुराद्वैताचार्य श्री गुलाबराव महाराज के योग विचार
लेखक	–	डॉ. कृष्ण माधव घटाटे
प्रधानसंपादक	–	आचार्य श्रीनिवास वरखेडी कुलगुरु, क.का.सं.वि., रामटेक
संपादक	–	आचार्य मधुसूदन पेन्ना संचालक, संशोधन व प्रकाशन विभाग, क.का.सं.वि., रामटेक
संपादक मंडळ	–	डॉ. दिनकर मराठे, क.का.सं.वि., रामटेक डॉ. वीना गाणु, नागपुर.
प्रकाशन वर्ष	–	२०२०
आवृत्ती	–	प्रथम
मुल्य	–	100.00
आय.एस.बी.एन.	–	9788183154392
मुखपृष्ठ	–	श्री. उमेश पाटील
प्रकाशक	–	कुलसचिव, क.का.सं.वि., रामटेक प्रशासकीय भवन, मौदा रोड, रामटेक. एवं न्यू भारतीय बुक कॉरपोरेशन २०८, द्वितीय तल, प्रकाशदीप बिल्डिंग, ४७३५/२२, अंसारी रोड, दरिया गंज, नई दिल्ली – ११०००२ फोन नं. : २३२८०२१४, २३२८०२०९

एस. के. आफॉसेट, दिल्ली

PREFACE

It is indeed a matter of great pleasure and pride for Kavikulaguru Kalidas Sanskrit University, Ramtek to have this rarest opportunity of hosting the 50th session of All India Oriental Conference at Nagpur. This AIOC-50th session at Nagpur will be forever remembered by all as the year 2019 also happens to be the year of Centenary Celebration of AIOC. The premier objective with which the great scholars of yester years had contemplated and established this national academic event called All India Oriental Conference has been achieved through these years with scores of young scholars contributing significantly to the treasure house of knowledge through their valuable research work.

The research of yore and of the present should be properly recorded so as to make it easily available to all lovers of knowledge and wisdom in the years to come. With this objective, we have contemplated to commemorate the 100th year of this grand event of 50th session of AIOC by way of publishing 100 monographs on different subjects in four languages viz., Sanskrit, Hindi, Marathi and English. It is no doubt a herculean task but still worth of it, for the reason that these 100 monographs will inspire many young scholars to take upon a fresh study and research of the oriental subjects with more vigour and zeal.

The AIOC Centenary Publication Series includes wide variety of subjects like Literature, Language, Veda, Indian Philosophy, Sanskrit Grammar, Law, Children Literature, Yoga, Astronomy and Astrology, Ayurveda, Pali, Prakrit, Jain, Buddhism, Education, Library Science, Poetics, Aesthetics, and Indology. It also includes reprint of some rare texts of academic importance which have gone out of print are not easily available. We wish to mark this centenary celebrations with this series that connects the glory of the past and aspirations of future. I place on record my sincere gratitude to all the authors of these monographs who have kindly contributed to the richness of this

series.

I am confident that the books published in these series will definitely inspire the lovers of Oriental Learning in general and of Sanskrit Language and Literature in particular.

On this occasion, we have published a memorable book of all the speeches of Section-Presidents of all previous sessions of AIOC. It is indeed a very capacious addition to any collection. I with all respect thank two eminent scholars of our times - Prof. Gautam Patel, President and Prof. Saroja Bhate, General Secretary, the torch bearers of AIOC who have not only encouraged us in this venture but also made all efforts to provide these valuable historical speeches for us. I thank all executive members of AIOC and my colleagues of the varsity for making this event a grand success. My words fall short in describing the painstaking efforts and scholarly commitment of my esteemed colleague Prof. Madhusudan Penna, local secretary of this session in bringing out this series.

I also take this opportunity to profusely thank Shri. Subhash Jain and Shri Dipak Jain, the proprietors of New Bharatiya Book Corporation, New Delhi for their enthusiastic approach and timely work with all precision and grace.

Let us all sanctify ourselves in the eternal flow of wisdom by reading these books and recommending these to others also!

सरस्वती श्रुतिमहती महीयताम्

Ramtek — Prof. Srinivasa Varakhedi
10th January 2020 — Vice Chancellor, KKSU

Kavikulaguru Kalidas Sanskrit University
All India Oriental Conference

100th Year 50th Session
10th-12th January, 2020

Chief Patron
Hon'ble Nitin Gadkari
Minister of Road, Transport & Highways of India

Patron
Prof. Srinivasa Varakhedi
Vice Chancellor, KKSU, Ramtek

AIOC President
Prof. Gautam Patel
Chairman, Sanskrit Seva Samiti, Ahmedabad.

AIOC General Secretary
Prof. Saroja Bhate
Professor of Sanskrit (Retd.), Pune University, Pune

AIOC Local Secretary
Prof. Penna Madhusudan
Dean, KKSU, Ramtek

Additional Local Secretary
Dr. Harekrishna Agasti
Dr. Kalapini Agasti
Dr. Dinakar Marathe
Dr. Parag Joshi

Organising Committee
Prof. C.G. Vijayakumar, Registrar (I/c) & Dean, KKSU, Ramtek
Prof. Nanda Puri, Dean, KKSU, Ramtek
Prof. Krishnakumar Pandey, Dean, KKSU, Ramtek
Prof. Laita Chandratre, Dean, KKSU, Ramtek
Dr. Ramachandra Joshi, Finance Officer, KKSU, Ramtek
Dr. Umesh Shivahare, Controller of Examination, KKSU, Ramtek
Dr. Dipak Kapade, Librarian, KKSU, Ramtek
Dr. Renuka Bokare, PRO, KKSU, Ramtek
Shri. Rajivranjan Mishra, Technical Head, KKSU, Ramtek
Shri. Pravin Kalambe, Security Officer, KKSU, Ramtek

Reception Committee

Prof. Srinivasa Varakhedi, Chairperson Reception Committee & VC, KKSU
Parampujya Govindagiri Swamiji, Rishikesh
Prof. P.T. Chande, Former VC, KKSU
Prof. Uma Vaidya, Former VC, KKSU
Prof. Vijendra Kumar, VC, National Law University, Nagpur
Prof. Rajnish Shukla, VC, National Hindi University, Wardha
Prof. Vinayak Kane, VC, RTM Nagpur University, Nagpur
Shri. Krupal Tumane, Member of Parliament
Shri. Girishji Vyas, Member of Legislative Council
Shri. Chandrashekhar Bawankule, Guardian Minister, Nagpur
Prof. Vishram Jamdar, Director, VNIT, Nagpur
Dr. Bhushankumar Upadhyay, Commissioner of Police, Nagpur
Shri. Vijay Phanshikar, Editor, The Hitavada, Nagpur
Shri. Rajkumar Tirpude, Tirpude Group of Insitutions, Nagpur
Shri. Mohabbat Singh, Tuli International, Nagpur.
Shri. Chandragupta Varnekar, Principal Retd., Nagpur
Shri. Suresh Sharma, Baidyanath, Nagpur
Shri. Prabhakar Rao Mundle, Dharampeth Educational Institutions, Nagpur

Executive Committee

Prof. G. U. Thite,
Vice President

Dr. Brijeshkumar Shukla,
Treasurer

Members

Dr. Rajni Satish Chandra Jha
Prof. Shukla Ramakant
Dr. Behera Ranjit
Dr. Meena Shukla
Dr. Nirmala Kulkarni
Dr. Roy Gauri Nath
Dr. Tripathi Uma Rani
Dr. Pushpa Jha
Dr. Basu Ratna
Dr. Mithilesh Kumar
Prof. Singh Prasoon Dutta
Shri. Mishra Arun Ranjan
Dr. Mishra Baidyanath
Dr. Tripathi Rajendra Rasraj
Shri. Harshdev Madhav
Dr. Kamdev Jha
Dr. Parinita Deshpande
Dr. Jha Udayanath (Ashok)

वैदक
षड्दर्शन
परंपरासंमत नए आयाम
तथा समन्वय

आर्य तत्त्व-ज्ञान के क्षेत्र में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा ऐसे वैदिक दर्शन के छह प्रकार प्रमुख माने जाते हैं। द्वैत-अद्वैत-प्रत्यभिज्ञा आदि उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदांत के ही भेद हैं। इन षड्दर्शनों में वेदों का महत्त्व अनन्यसाधारण है अतः इन्हें वैदिक कहा गया है। महाराज ने इन छह दर्शनों पर विपुल लिखा है और हर दर्शन में मौलिकता बतलाई है। अतः षड्दर्शन के प्रति महाराज की विचार दिशा को इस प्रकरण में संक्षेप में जानना है।

योगदर्शन

सांख्य दर्शन के पूरक रूप में योग दर्शन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सांख्य के अनुसार जब साधक आत्म-अनात्म-विवेक पूरा कर लेता है, तब आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिए साधक को योग का सहारा लेना होता है। सांख्य के विचार से आत्म और अनात्म का भेद स्पष्ट हो जाने पर आत्मा के अनुभव के लिए योग की प्रक्रियाओं को आचरण में उतारना होता है। अतः इसे सांख्य-योग का युग्म कहा जाता है। सांख्य के पचीस तत्त्वों में २६ वाँ ईश्वर मिला देने से योगदर्शन बनता है। सांख्य दर्शन का अभ्यास करने पर आत्मा के अनुभव के लिए योग-अभ्यास की बड़ी जरूरत होती है। इस योगशास्त्र पर महाराज ने कुल आठ ग्रंथ लिखे हैं। योग प्रभाव, निदिध्यासन प्रकाश, ध्यानयोग दिवाकर, हिरण्ययोग, योगांगमययलक्षण, कुंडलिनी, जगदंबा और सोपान सिद्धि इन आठ ग्रंथों में मात्र योग संबंधी जानकारी है तथा साधुबोध, संप्रदायसुरतरु, और पत्रों में योग के बारे में नई जानकारी और योग की असंख्य नई प्रक्रियाओं को महाराज ने लिखा है। अनेक प्रसंगों में योग की चर्चा करते समय वे आधुनिक मत का खंडन करते हैं और निडर होकर योग का शास्त्रबद्ध रूप महाराज पाठकों के समक्ष रखते हैं। उन सबके आधार पर महाराज के मौलिक संशोधन का यहाँ संक्षेप में परिचय पाना है।

पतंजलिमुनि

श्रीगुलाबराव महाराज योगशास्त्राचार्य पतंजलि मुनि के वचनों को प्रमाण मानकर योग के बारे में कहते हैं। इस बारे में आधुनिक विद्वानों में कई मतभेद, संदेह हैं। किन्तु महाराज योगसूत्रकार पतंजलि मुनि को अनंत नाग का अर्थात् शेष का अवतार मानते हैं। भगवान शेष ने ही पतंजलि रूप से अवतार लेकर योगशास्त्र की सूत्रबद्ध रूपरेखा तैयार की है, यह उनकी स्पष्ट धारणा है। अन्यत्र उपलब्ध शेष के अवतारों को भी महाराज परमग्राह्य मानते है और

बतलाया है कि इन सभी अवतारों में दोषापनयन का कार्य समान है।

१. **आयुर्वेद :** भगवान शेष ने चरकाचार्य का अवतार लेकर चिकित्साशास्त्र में चरकसंहिता का निर्माण किया और शरीर शुद्धि का अर्थात् रोग निवारण का उपाय लोगों को दिखलाया।

२. **व्याकरण :** व्याकरण पर पतंजलि का महाभाष्य बहुत प्रसिद्ध है। यह पतंजलि और योगसूत्रकार पतंजलि एक ही है। व्याकरण पर ग्रंथ लिखकर वे जीव में 'वाचा-दोष' दूर करते हैं।[१]

३. **सेवा :** लक्ष्मण के रूप में भगवान शेष प्रभु रामचंद्र की सेवा करते हैं। हीन माना जाने वाला सेवा धर्म भगवान से ही जोड़ देने पर किस प्रकार से सर्वश्रेष्ठ परमार्थ दिलाता है यही इस लक्ष्मणवतार की सार्थकता है। उसी तरह से बंधु का अर्थ है बंधन कारक या ''संसार के बंधनों में बांधने वाले बांधव'' इन विविध अर्थों में निहित बंधन रूपी सभी दोष लक्ष्मण ने दूर कर दिये हैं। और विशुद्ध बंधुप्रेम का और दास्यभक्ति का परम आदर्श लक्ष्मण के रूप भगवान शेष स्थापित करते हैं।

४. **नीती :** कृष्णावतार में बलराम के रूप में नितिशास्त्र की रचना की है।[२] माघ कवि की रचना, 'शिशुपाल वध', में इसका उत्कृष्ट चित्रण उपलब्ध है। नीतिशास्त्र से राजनीति और सामान्य व्यवहार के मलीन, कुटिल नीति को किस प्रकार से समाप्त करना चाहिए और धर्म के विरोध में न जाकर सुनीति का पालन किस प्रकार हो, इसका उत्तम मार्गदर्शन बलराम द्वारा किया गया है।

५. **योग :** पतंजलि का अवतार लेकर भगवान शेष ही योग के माध्यम से मन के विकारों को दूर करने का मार्ग स्पष्ट रूप से बतलाते हैं। यही वह योगदर्शन है। इस पांचभौतिक देह की सहायता से परमेश्वर-प्राप्ति किस प्रकार से की जाये यह योगदर्शन से अज्ञानी जीव को सिखलाया जाता है।

इस प्रकार से योग, वैद्यक, व्याकरण, नीति, दासता और बंधुप्रेम द्वारा मन, शरीर, वाचा के दोषों को पूरा करने के लिए भगवान शेष ने कई अवतार लिये हैं। पुराणों में वर्णित इस मत को महाराज पूरी तरह से स्वीकार करते हैं।

यहाँ ध्यान रखने योग्य बात यह है–

योगेन चित्तस्य, पदेन वाचा मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्त प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्राञ्जलिमानतोस्मि।।

प्रथम समाधिपाद क्यों?

योगशास्त्र में प्रथम समाधिपाद है फिर साधनपाद है। गीता के छठे अध्याय में पहले साधन बतलाया गया है और फिर समाधि कही गई है। ऊपरी तौर पर यहाँ विरोध अवश्य दिखलाई दे रहा है किन्तु महाराज इस विरोधाभास में समन्वय बतलाते हैं।

अर्थ के अनुसार देखें तो पहले साधन और फिर फलरूप में समाधि सही क्रम लगता है। गीता भगवद्वाणी है, योगशास्त्र का मूल सूत्र रूप है। पतंजलि आदि भाष्यकार भी पहले साधन फिर समाधि या फलप्राप्ति, इसी क्रम को अपनाते हैं। फिर भी पतंजलि समाधिपाद को प्रथम बतलाते हैं, इसको कारण मीमांसा महाराज बड़े रोचक ढंग से करते है–

समाधिपाद से। जो समाधि संभव है हमें।
उस हेतु नहीं यह निरूपण। साधनादियों का।।[३]

''केवल मन स्थिर होते ही कार्य हो जाता है'' अतः मन स्थिर करने के अनेक उपाय समाधिपाद में उपलब्ध हैं। अतः समाधिपाद प्रथम रखा गया है। एकाग्रभूमि के धरातल पर जिसका चित्त जाता है वह समाधिपाद से अध्ययन कर सकता है और–

जिसका चित्त चंचल है वह साधनपाद से अध्ययन करे यह योगप्रभाव में महाराज स्पष्ट करते हैं।

जिसका वैराग्य अति कड़ा है, जिसका मन विषय की ओर भागता ही नहीं है। उस एकाग्र धरातल पर जो साधक मन स्थित कर सकता है वह समाधि संपन्न हो जाता है। ऐसे उत्तम अधिकारी को शास्त्र का पूरा विस्तार बतलाने की आवश्यकता नहीं होती। उसे तो केवल समाधिवाद श्रवण करना होता है। उनमें से किसी एक प्रक्रिया का चुनाव अपनी योग्यता के अनुसार करना होता है और

केवल चित्त की एकाग्रता के सहारे कृतार्थ हो जाय, यही सूत्रकारों का मत है।

किन्तु जो साधक विषयासक्त है उसे साधनपाद के यमनियमादि अष्टांग योग का प्रारंभ से अध्ययन करना चाहिए। और क्रम दर क्रम अपनी उन्नति कर ले और अंत में समाधि तक पहुँचे। इसी रूप में इस शास्त्र की रचना की गई है।

यदि केवल शास्त्राभ्यास ही करना हो तो समाधिपाद को पहले समझ ले। ऐसा निम्न श्रुति में कहा गया है–

''आत्मा वा रे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः''।।

इसमें 'द्रष्टव्य' यह प्रथम पाद है। फिर श्रवण, मनन और निदिध्यासन का क्रम बतलाया गया है। उदाहरण के लिए, वृक्ष पर आम कैसा है, प्रथम यह देखें। फिर वृक्ष पर चढ़कर, श्रम करके उसे प्राप्त करें। उसी तरह साधक को प्रथम यह जानना जरूरी है कि उसे क्या हासिल करना है। यह उसे समाधिपाद से प्राप्त होता है। फिर साधन करें और अंत में समाधि रूप फल प्राप्त करें। अतः योगशास्त्र में प्रथम समाधिपाद और फिर साधनपाद ऐसा पाठक्रम है।

''खड़ी पाई मात्राओं को मिलने से जो रूप मिलता मुकुट को।'' इस ओवी के अनुसार उत्तम साधक सर्वांगों का श्रवण करे, अवधान दे और ''श्रवण से अवयान दे। तब सब सुख लाभ होवे।'' ऐसा ज्ञानेश्वर महाराज भी कहते हैं।

इन सबसे यह निष्कर्ष उभरता है कि ''शब्द सुनाय संदेह मिटावत'' अर्थात् शब्द सुनकर ब्रह्म रूप होने वाले उत्तम अधिकारी के लिए समाधिपाद उचित है। और अन्यों के लिए साधनपाद से अभ्यास करें ऐसी व्यवस्था शास्त्रकारों ने की है।

इस तरह से महाराज ने गीता का अर्थक्रम और योगसूत्र का पाठ क्रम दोनों में समन्वय कर विरोधाभास का निरसन किया है।[४]

योग का अधिकार

'अथ योगानुशासनम्' यह योग सूत्र का प्रथम वाक्य है। इसका 'अथ' शब्द मंगलकारक और आरंभवाचक है। आनंतर्यवाचक नहीं। जिस शास्त्र में 'अथ' शब्द आनंतर्यवाचक होता है यहाँ यह शर्त होती है कि उस शास्त्र का ज्ञाता आरंभ से ही साधनसंपन्न होना चाहिए। जिस तरह से यह माना जाता है कि जनेऊ संस्कार प्राप्त व्यक्ति ही वेद पठन का अधिकारी हो सकता है या वेदांत के अधिकारी को साधन चतुष्टय संपन्न होना चाहिए इस तरह से यहाँ योग शास्त्र में इसकी जरूरत नहीं मानी जाती।

यहाँ 'अथ' शब्द आरंभवाचक है। इसका अर्थ है हर कोई अपनी-अपनी दशा में थोड़ा-बहुत योग कर ही पाता है अतः विशेषाधिकार प्राप्त होने पर ही योग क्रिया पाए ऐसा अर्थ अथ का नहीं है। किन्तु अभ्यास और वैराग्य का बल उसी नियम से वृद्धिगत करना चाहिए।[५] यह महाराज का स्पष्ट मत है। निरा मूढ़ पुरुष भी योग के लिए सद्गुरु के पास जा सकता है। जिस प्रकार चिकित्सा शास्त्र में शिष्य को पूरा तैयार करने का जिम्मा गुरु का होता है उसी तरह शिक्षा प्रणाली के अनुसार योग में यम नियम है अतः उन्हें सिखाना गुरु का काम हो जाता है। यदि कहने मात्र से शिष्य सुनता नहीं है तो उसका जिम्मा किसी भी शास्त्र में गुरु पर होने की बात नहीं लिखी है।[६]

परोक्षविवेक अपरवैराग्य। शमादिषडंग, मुमुक्षाभाग्य
अधिकारी काहैयह योग। कहत साधन चतुष्टय।।१७५।।[७]

इनमें मोक्ष की इच्छा और स्वाध्याय इन दो बातों को साधक को सौंपा गया है। और वैराग्य किस प्रकार प्राप्त किया जाय यह सिखाने का सारा जिम्मा गुरु का होता है। अतः महाराज कहते हैं- ''जो योग की इच्छा करता है वही योग का अधिकारी है।'' अतः वही अपनी पूरी ताकत के साथ कर सकता है जिसे ब्रह्म रूप होने के लिए योग की इच्छा है। गुरु वचन पर दृढ़ निष्ठा पाकर शास्त्रप्रतीति, गुरुप्रतीति और स्वप्रतीति इनमें मेल बिठाया जाए, विषयासक्ति का त्याग करें, मन विषयवासनाओं को जीतें, उनके तारतम्य को समझें, समान विषयों में संपर्क रखें और धीरे-धीरे विषयदोष दर्शन से विषय दूर करें। जो ऐसा

बर्ताव करता है वही योगशिखर पर आसीन हो सकता है।[८] अनुभूत संसार क्लेशों के सन्मुख अभ्यास और मृत्यु का जिससे भय नहीं रहता वही योग का अधिकारी है। अतः ज्ञानेश्वर माऊली ने लिखा है–

''योग जैसा सरल कुछ है?''

किन्तु साधन का अभ्यास करते समय एक परहेज अवश्य रखना जरूरी है। यह है–

स्थित वैराग्य को। बनाया सखा
वह पहचान कराता भूमिका की। साथ चलता।।१०४३–१८ ज्ञानेश्वरी।।

जिनमें विषयों के प्रति विरक्ति भाव नहीं है, वह भूलकर भी योगपंथ का सहारा न ले। अविरक्त द्वारा योगाभ्यास करने का अर्थ है कल का काल आज पर ले आना। अविरक्त के अल्पशुद्ध अंतःकरण में जो भी भाव उमड़ते हैं उन भावों के अनुकूल वह किसी भी योनि में जा गिरता है। इस संबंध में जड़भरत का उदाहरण प्रसिद्ध है। किन्तु 'जड़भरत' ज्ञानसंम्पन्न था। हरिण जन्म पाकर भी उसका योग नष्ट नहीं हुआ था।[९] किन्तु संसार में उलझे मन से यथारुचि योग का प्रयत्न न किया जाय अन्यथा काल का भयानक आघात होता है और उसकी बुरी दशा हुए बिना कोई चारा शेष नहीं रहता।[१०]

अजी, अति भोजन से अपचन। किसी की भी नहीं होती मृत्यु।
कैसे ही कामबुद्ध से योगचरण। वे नरक में गिरते इस जन्म।।

एक रहस्य

वैराग्य और स्वयं के प्रयत्नों के बल पर जो योग का अभ्यास करने की इच्छा रखता है उसे एक रहस्य को अपने मन में अंकित करना आवश्यक है।

स्वयंप्रतीतिः स्वगुरुप्रतीतिः शास्त्रप्रतीतिः मनसश्च निरोधः।
दिने दिने यस्य भवेत्स योगो सर्वेषु सुसंमतोऽभूत।।

१. शास्त्रप्रतीति का अर्थ है शास्त्रमें बताया सामान्य मार्ग।

२. गुरुप्रचीति का अर्थ है शिष्य के अधिकार के अनुरूप शास्त्र से गुरु द्वारा निकाला गया मार्ग।

३. आत्मप्रतीति का अर्थ है अपने प्रयत्नों से स्वयं को प्राप्त चित्त के निग्रह का अनुभव।

४. अपने अनुभवों को गुरुशास्त्रों से मेल बिठाना।[१२] इन तीन प्रतीतियों की सहायता से महाराज ने निष्कर्ष निकाला है कि इन्हीं तीन प्रतीतियों से योगाभ्यासी समाधी प्राप्त करता है। इन तीनों के एक होने से शास्त्र और गुरु की योग्यता-उपयोगिता के प्रति अणुभाग भी अनादर भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। किन्तु योग के इस सहस्य को जान न पाने के कारण योगियों में आधुनिक कहलाने वालों में गुरु शास्त्र के प्रति अनादर भाव, अपने ही अनुभव की बड़ाई प्रशंसा आदि मानसिक विकृतियाँ बढ़ती हुई नजर आती हैं। परंपरा के विचारों की एकतानता कम होती जाती है। और अंत में इसका विपरीत परिणाम यह होता है कि दिशाभूल होती है, वह ठगा जाता है और अपनी ही परमार्थ की परंपरा की जगहँसाई होती देखता है। अतः उपरोक्त तीन तथ्यों को समझकर ही साधक को योगमार्ग का अवलंबन करना चाहिए।

योग की सरलता और भक्ति की कठिनाई

कईयों ने देह के कष्ट को ध्यान में रखकर भक्ति को आसान माना है और योग को दुष्कर माना है। यह एक गलतफहमी है किन्तु ज्ञानेश्वर के ''योगसम सरल कोई है?'' इस प्रश्न के अनुसार ही महाराज की मान्यता है कि वस्तुनिष्ठ मानस भाव से उत्पन्न भक्ति की अपेक्षा कर्मतंत्र से जुड़ा योग सचमुच सरल है।[१३]

दडी-जिसके देह में वैराग्य समाया।
विवेक से स्थिर चित्र बना।।
हो कोई भी ऊँच नीच जात से।
पर योग का अधिकारी कहलाता।[१४]

विवेक, वैराग्य और अभ्यास का मेल बिठाने में जो सक्षम है, फिर वह चाहे किसी भी जात का क्यों न हो, योग का पूरा अधिकार उसे प्राप्त है। महाराज ऐसी सूचना उपरोक्त पद में देते हैं।

इस सारे विवेचन का सार इतना ही है कि योगाभ्यास करने की इच्छा रखने वाला अपनी योग्यता के बारे में सोचना छोड़ दे। वैराग्य आदि साधनों से सम्पन्न बनने का प्रयत्न करें। अभ्यास के समय मृत्यू का भय मन से समूल हटा दे और गुरु की आज्ञा से बड़ी दृढ़ निष्ठा के साथ ईश्वर को प्रणिपात कर अभ्यास जारी रखे।

हममें है या नहीं योग्यता। इस शुभकर्म में न रखे चिन्ता।
दुर्गति कल्याण जागे। यह सैदव नहीं होता।[१५]

कुंडलिनी, चक्रे, नाड़ी आदि के बारे में गलतफहमियाँ

कुंडलिनी, षट्चक्र, सुषुम्ना नाड़ी आदि के बारे में लोकमन में बहुत-सी गलतफहमियाँ फैली है। उन्हें दूर करने का एक उद्देश्य महाराज के साहित्य में दिखलाई देता है। उनके वास्तविक रूप को महाराज आसान शब्दों में कहते हैं।

अंग्रेजी में जिसे फ्लेक्सेस कहते हैं उसे आज के योगी चक्र कहते हैं। महाराज इस बात से सहमत नहीं है। एक आधुनिक पुस्तककार ने लार्जबॉवेल (आंतड़ियों) को कुंडलिनी कहा है। किन्तु आंतड़ियों को कुंडलिनी मान लेने पर वह ऊपर कैसे चढ़ेगी। वह यदि मस्तिष्क में चढ़ बैठेगी तो योगी को समाधि के स्थान पर मृत्यु का सामना करना होगा।[१६]

चक्र की अवस्थाएँ भिन्न हैं। मन में भाव जाग उठते ही शरीर में अनायास विकार उत्पन्न होता है। शरीर में स्थित गुप्त बातें मन की भावनाओं द्वारा प्रकट होती हैं। उसी प्रकार चक्र, कुंडलिनी आदि मन की तीव्र भावनाओं के रूप में ही शरीर में प्रकट होने लगते हैं और फिर उनके प्रकार और परिणाम शरीर पर दिखलाई देते हैं।

यदि ये वस्तु से विपरीत भावानाएँ होती हैं तो उन्हें झूठ कहा जाता है किन्तु वस्तु के अनुरूप भावना का होना यह झूठ संकल्पना नहीं है। छिपी वस्तुएँ शब्दों के माध्यम से मुखर होती हैं और फिर भावनाओं से उन्हें प्रकट किया जाता है। योगशास्त्र पहले चक्र व कुंडलिनी बतलाते हैं और फिर वे

योगी की भावना के अनुरूप प्रकट किया जाता है। योगशास्त्र पहले चक्र व कुंडलिनी बतलाते हैं और फिर वे योगी की भावना के अनुरूप प्रकट होती हैं। अतः गुरुवाक्य के अनुसार ही भावना की जाए। आधुनिक योगी शारीरिक चक्रों को शरीर के अंगों के नाम दिलाते हैं यह उचित नहीं है। महाराज कहते हैं कि ऐसा करने से भावनात्मकता और प्रमाणों का आभास निर्माण करना है।

मन की नाड़ियाँ

महाराज कहते हैं कि योगप्रभाव से मन की भावनाओं को वहन करने वाली नाड़ियाँ मन के समान ही शस्त्र से टूटती हैं। शव के साथ दहन नहीं होतीं क्योंकि ये मांसल नहीं हैं। बैकुंठ, कैलास, यमलोक या पुनर्जन्म आदि सभी लोकों में आना-जाना जीव इन्हीं नाड़ियों की सहायता से करता हैं।[१७]

विषय समझते हुए या उसका उपभोग करते समय मन शरीर से बाहर निकलता है फिर वह पूरे शरीर में फैलता नहीं है। सभी इन्द्रियों से निकलकर सभी विषयों की ओर एकाएक नहीं जा सकता। वह नाक से बाहर निकलता है तो त्वचा के पास नहीं होता। एक समय पर एक ही विषय का उपभोग होता है। अतः मन के आवागमन के लिए नलिकाएँ हैं। इन्हें ही मन की चित्तवाहिनियाँ कहते हैं। इन नाड़ियों से ही षट्चक्र कुंडलिनी आदि बने हैं। इन्हें हम केवल योग दृष्टि से ही देख पाते हैं। काटकर या छीलकर इन्हें देखा नहीं जा सकता।

इन मानसिक नाड़ियों से ही आठ पंखुड़ियों का कमल हृदय में स्थित हैं। उनमें मन के सारे स्तर या शक्तियों निहित हैं। मन की इन सारी शक्तियों की पहचान एकाग्रता की दशा में हो सकती हैं। स्थूल दृष्टि से वह जानना कठिन है। योगशास्त्र में ऐसे छह कमलों की कल्पना की गई है जो भावनाओं के रूप में व्यक्त होती हैं। अतः योगशास्त्र में 'स्थूलारुंधती' न्याय के अनुसार पहले स्थूल कमल की भावना करनी चाहिए। आठ पंखुड़ियों का यह कमल छाती और पेट के बीच होता है, उसका मुख नीचें और डंठल ऊपर की ओर होता है। रेचक प्राणायाम से उसका निम्नगत मुख ऊपर करना चाहिए और उस पर बुद्धि की धारणा की जानी चाहिए।[१८]

कुंडलिनी इन्हीं नाड़ियों से बनी हुई सर्प की तरह कुंडलाकार है। वह निद्रित होती है, उसको प्रेरित कर जाग्रृत करना होता है। यह कुंडलिनी ही योग की सारी शक्ति है।[१९] ब्रह्मवेत्ता वेदांती 'शुद्धबुद्धी'कहकर इसका स्तवन करते हैं। मांत्रिक इसे 'अलौकिक शक्ति' कहते हैं। सिद्ध पुरुष उसे 'अलोकबुद्धि' कहते हैं। और योगी इसे ही प्रणवरूप ओंकार की जन्मदात्री 'कुंडलिनी' शक्ति कहते हैं। कुंडलाकार का अर्थ है गोलघुमावदार इसका शयन है। अतः यह ओंकार रूप है। यही चैतन्य शक्ति है। चैतन्य को व्यक्त होने के लिए कोई पद या स्थान चाहिए अतः नाड़ी का आसरा लेकर इस शक्ति को कुंडलिनी कहा गया है।

इसे ही जानिए कुंडलिनी। महाशक्ति।।२५।।
व्याष्टि देह में कुंडलिनी सर्पिणी। समष्टि में वह सहस्रफनी।।
पाने हेतु ब्रह्मस्थान। दलाल बनी कुंडलिनी।।३३।।
(योगरहस्य कुंडलिनी जगदंबा)

वार्त्तिककार कहते हैं–सुषुम्ना नाड़ी का मूल भी यही है। ब्रह्मांड से बाहर निकलकर इसने ही सूर्यचंद्र को व्याप्त किया है। सारे विश्व को गुरुत्वाकर्षण की शक्ति के रूप में इसने धारण किया है। ब्रह्मांड की तरह पिण्ड में भी चित्त इसका ही आश्रय पाता है। यही मनोवाहिनी है। इसके द्वारा ही मन लोक–परलोक में आवाजाही कर सकता है। योगी भी इसकी सहायता से समाधि में जाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसे योग के बिना देखा नहीं जा सकता।[२०]

व्यष्टि में कुंडलिनी और समष्टि में सहस्रफनी एक ही है और चैतन्यमय है। चैतन्यमय होने के कारण मांसमय और जड़ नहीं है। शरीर का निच्छेद कर कुंडलिनी चक्र आदि दृश्य रूप में नहीं आ सकते। भावना के कारण वे शरीर में व्यक्त होकर उनकी शक्ति प्रतीत होने लगती है। इस रूप में इन सबका यथार्थ रूप महाराज ने अनेक प्रसंगों में स्पष्ट किया है और पाश्चात्यों के विदग्ध मतों का निराकरण कर साधकों को मार्गदर्शन दिया है।

हठयोग और राजयोग

आमतौर पर अध्यात्म में रुचि रखने वालों में राजयोग के प्रति श्रेष्ठ भाव और हठयोग के प्रति हीनभाव रहता है। किन्तु महाराज दोनों के भेद सुचारु रूप से दिखलाते हैं। उनके बीच का आपसी पूरक भाव भी स्पष्ट करते है।[२१] वैराग्य की आवश्यकता दोनों के लिए ही है। वैराग्य के सिवाय राजयोग भी न करें या हटयोग के झंझट में भी नही फंसें। ऐसा कुछ निष्कर्ष महाराज पाते हैं।

हठयोग में यम, नियम आसन और प्राणायाम के द्वारा वैराग्य और चित्त निग्रह को पाना होता है। राजयोग में केवल वैराग्य से ही काम चल जाता है। परंतु वह कड़ा होना चाहिए। आधुनिक पारमार्थिक जन वैराग्य के सिवाय ही राजयोग चाहते हैं अतः उनके प्रयत्न विफल हो जाते हैं। वैराग्यबोधक शास्त्र की ओर ध्यान न दिया जाए तो समाधि की दशा हासिल नहीं हो सकती। खैर।

राजयोग एक प्रकार की मानसिकता है जबकि हठयोग में शरीर प्रधान है। यम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान आदि अंग राजयोग के हैं और यम, आसन, प्राणायाम आदि अंग हठयोग में शामिल हैं। किन्तु इनके कुछ अंग राजयोग व हठयोग दोनों में समान ही हैं।

फिर भी यह स्पष्ट है कि हठयोग की समाप्ति राजयोग में होती है।

केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते।।–गोरक्ष संहिता।

मनोयत्र बिलीयते पवनस्तत्र लीयते।

पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते।–हठयोग प्रदीपिका।

जिसका वैराग्य कड़ा है उसे इंद्रियों से च्युत होने का भय नहीं है। वह राजयोग से आरंभ कर सकता है। योगवसिष्ठ में लिखा है कि राजयोग करने वाले को क्वचित् हठयोग करना ही चाहिए और अंततः हठयोग करने वाला राजयोग करता ही है।

इस सारी योग प्रक्रिया में राजयोग श्रेष्ठ है। उसके लिए हठयोग की आवश्यकता होती है। ऐसा गोरक्षनाथ आदि योगशास्त्रज्ञों का अनुरोध है।[२२]

देहादी नियामक तामसद्रव्यशक्ति, आवरण, प्राण, इंद्रियाचलन आदि

राजस में क्रियाशक्ति और विक्षेपों का निग्रह करना हठयोग में शामिल है।

केवल ज्ञानशक्ति (सत्व) के बचे संस्कारों का निरोध राजयोग से संभव है।

ज्ञानवृत्ति राज योग में। प्राणायासन में हठ।।

वैराग और अभ्यास की सहायता से सब प्रकार के विरोध संभव हैं। वैराग के बिना केवल अभ्यास करने वाला अंत तक जा नहीं सकता। हर पल वह विषयासक्ति से घिर जाता है। अभ्यास के श्रम से वह उकता है और अभ्यास छोड़ देता है।

अभ्यास बिना विरागी बनना पहले की अपेक्षा उत्तम है फिर भी प्रवृत्तियों के संयमन के बारे में वह अज्ञानी होने के कारण मृत्युपर्यन्त उसे तकलीफें उठानी ही पड़ती हैं। अतः हठयोग और राजयोग के समन्वय से चित्रवृत्तियों का संयमन संभव है। यही प्राचीन योगशास्त्रों का सिद्धांत हैः

१. 'नियम' के वेदांतश्रवण से तामस शक्तियों में निरोध होता है।

२. 'यम' के साथ अन्य नियमों से इंद्रियशक्ति पर संयमन आता है।

३. आसन से अवयवस्थिरता आती है।

४. प्राणायाम से सभी चलनशक्तियों का संयमन होता है और चित्र की मूढ़ावस्था समाप्त होती है।

५. क्षिप्त अवस्था का प्रत्याहार से संयमन होता है।

६. विक्षिप्त अवस्था का धारणा और ध्यान से निरोध होता है।

७. संप्रज्ञावस्था में समाधि प्राप्त होकर मन एकाग्र बन जाता है।

८. अंततः निर्विकल्प समाधि में निरुद्धावस्था प्राप्त होती है।

योगाभ्यास का यह संक्षिप्त क्रम है। किन्तु इसमें निष्णात होना जरूरी है। मृत्यु के भय को तो जड़मूल से उखाड़ फेंकना आवश्यक है।[२३]

इस तरह से हठयोग और राजयोग परस्पर पूरक हैं। हठयोग के बाद का सोपान है राजयोग। अतः उनमें से किसी एक को ग्राह्य और दूसरे को अग्राह्य न माना जाए। यह महाराज ने विस्तार से समझाया है। मन को स्थिर होता न

देखकर राजयोग का ही अध्ययन करना उचित लगना भी स्वाभाविक ही है किन्तु राजयोग की भी माँग है कि स्थिर रहे यह स्वतः स्थिर नहीं रह सकता। अपने ही प्रयत्न से, मन पर कोई संयम न रखते हुए कोई एक मार्ग ढूँढ़ना, योगशास्त्र में इसकी स्वीकृति नहीं है।[२४]

अब ध्यान योग को समझेंगे।

ध्यानयोग

ध्यान यह अष्टांग योग का सातवां अंग है।[२५] फिर भी भगवद्गीता में लिखा है- 'ध्यानेन आत्मनि पश्यन्ति'। इसका अर्थ है कि योग के बिना भी ध्यान से आत्मदर्शन संभव है।

महाभारत के शांतिपर्व में भीष्म मोक्षधर्म के लिए ध्यान योग का उपदेश देते हैं। यह अष्टांगयोग से कुछ भिन्न है अतः इसका विवेचन अलग किया आता है।

''प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां या प्राणस्य'' इस योगसूत्र के अनुसार प्राणायाम को विकल्प माना गया है। अतः ध्यान करते समय प्राणायाम चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं हैं। अतः ध्यान करने में योग के सारे अंगों का आचरण करना चाहिए, ऐसा भी कोई बंधन नहीं है। ध्यान में एक स्वतंत्र योग-भाव निहित है।

उसी तरह से समाधिवाद के योगसूत्र ''यथाभिमतध्यनाद्वेति''-'के अनुसार ध्यान को विकल्प' कहा गया है। अतः आसन, प्रणायाम आदि से समुचित ध्यान किया जाए ऐसा कोई अनुरोध सूत्रकारों का नहीं है।[२६] पतंजलि भीष्माचार्य और भगवान श्रीकृष्ण इन तीनों ने ध्यान को स्वतंत्र मार्ग के रूप में अपनाया है। महाराज ने इन तीनों के वचन प्रमाण मानकर 'ध्यानयोग दिवाकर' लिखा है जिसके ध्यानमार्ग के छह अध्यायों में ध्यान की नई प्रक्रियाएँ विविध अधिकारियों के लिए बताई है।

स्वप्नयोग

समाधिपाद के योग सूत्र-''स्वप्ननिद्राज्ञानालंबनं वा''- में स्वज से

योगसिद्धि अर्थात् परमेश्वर की प्राप्ति किस प्रकार की जाए इस बारे में लिखा गया है। इस विषय पर महाराज ने 'हिरण्योग' नाम से चार अध्यायों का एक ग्रंथ लिखा है। और यथार्थ स्वप्न को योग से उत्पन्न कैसे बनाया जाए इस पर विवेचन किया है।[२७]

स्वप्न के चार भेद है-अपार्थ, अन्यार्थ, सूचक और यथार्थ। इनमें यथार्थ स्वप्न में संतदर्शन, सद्गुरुदर्शन, और ईश्वरदर्शन का समावेश है। संत, गुरु, ईश्वर को स्वप्न में देखने से उसे झूठ न माना जाए। साधक अपने मन को वहीं केंद्रित करे। और उनके उपदेशनुरूप चले। उदाहरण के लिए-

१. कुछ कौशिक ऋषियों को भगवान शंकर स्वप्न में रामरक्षा बतलाते हैं और उन्होंने उसे लिख लिया।[२८]

२. श्रीतुकाराम महाराज को सद्गुरु ने स्वप्न में मंत्रोपदेश दिया।

३. मीराबाई का वरण श्रीकृष्ण ने स्वप्न में ही किया। महाराज इस तरह से यथार्थ स्वप्न संबंधी दृष्टांत देते हैं और उसके अनुरूप परमेश्वर-प्राप्ति किस प्रकार से की जाए इसका संपूर्ण विवेचन करते है। इन महात्माओं ने स्वप्नों को झूठ नहीं माना है और इसी कारण उनका परमार्थ पूरी तरह से साध्य हुआ है। शंकराचार्य को भी यह स्वप्नयोग स्वीकार है।

''स्वप्नेऽवाचार्यमंत्रः श्रवण परिचित, सत्यमेति प्रबोधे।
स्वप्नदीशप्रसादादभिलषितफलं सत्यतां प्रातरेति।।''

उसी तरह से उन्होने बृहदाख्यक में स्वप्न ही इहपरलोक में प्राप्त सुबेअसर है अतः वहाँ गुरुउपदेश और संतदर्शन सत्य ही हैं। ऐसा महाराज भी स्पष्टतः कहते हैं।[२९]

समाधिपाद का सूत्र कहता है कि स्वप्न का उपयोग योग के लिए किया जाए। वहाँ स्वप्न के लिए पर्याय दिया गया है। अतः इस स्वप्न प्रक्रिया को एक उत्तम योग के रूप में मिल जाता है। जिस साधक का मन एकाग्र नहीं है उसके लिए साधनपाद की प्रक्रियाऐं उपयोगी साबित होती हैं और जिसका चित्त समाहित है ऐसों के लिए समाधिपद में नानाविध प्रक्रियाएँ उपदिष्ट हैं अतः स्वप्नयोग का

समावेश श्रेष्ठ योगों में होता हैं।[३०]

स्वप्नेन सत्वजन्येन वृत्तिरोधः प्रजायते।।५।।

सत्वस्य, मध्यसंवेगात् योगत्वं लभतेऽचिरात्।।६।।

महाराज के 'हिरण्ययोग' ग्रंथ में स्वप्न के संबंध में विस्तार से जानकारी दी गई है। इसके स्वप्न से वृत्तिरोध होता है और मध्यसंवेगरूपी सत्वगुणों से युक्त स्वप्नों का उपयोग वृत्तिरोध के लिए जाए तो योग पूरा होता है। ऐसा स्पष्टतः महाराज बतलाते हैं।

स्वप्नयोगसाधना के लिए शिथिलांगासन और ध्यान कइयों के लिए सहायक साबित हुआ हैं। अतः उसका प्रयोग करें।[३१] मृदु संवेग से अर्थात् ध्यान धारणा से सात्विक बनें। अंतःकरण में ईश्वर को प्रयत्नपूर्वक लाना चाहिए। फिर मध्य संवेग से उसे स्वप्न में देखें ओर अंत में तीव्र संवेग से हृदय में उसका साक्षात्कार करके योगी बन जाएँ।

मृदुसंवेगों से सत्वांतःकरण में। भावरूप से प्रकट करें कैवल्यदाता को उसे ही मध्यसंवेग से देखकर स्वप्न में। तीव्रयोग से हृदय में देख योगी कहलाए।।१९

-हिरण्ययोग अ.१

महाराज इस प्रकार मृदु-मध्य-तीव्र संवेगों का क्रम बतलाकर स्वप्नयोग के बारे में मार्गदर्शन करते हैं।

समाधि पर मौलिक विवेचन

सारे योग दर्शन का ध्येय असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त करना है। समाधि का अर्थ है-ध्येय और ध्याता का एक होना।[३२] यह एकरूपता योग की सहायता से प्राप्त करनी चाहिए। योगशास्त्र के अनेक ग्रंथों में संप्रज्ञात आदि समाधि प्रकारों पर विस्तार लिखा गया है। किन्तु महाराज उसके सूक्ष्म भेद और नए रहस्य बतलाते हैं। उन्होंने असंप्रज्ञात समाधिके तीन प्रकार और दो नए प्रकार 'त्वंपदनिष्ठ समाधि' और 'सत्पदनिष्ठ समाधि' बतलाए हैं। अब उनसे हम परिचित होंगे।

संप्रज्ञात समाधि

इसमें ध्याता और ध्येय एकरूप हो जाते हैं किन्तु उस एकरूपता का अहसास बना रहता है। इसे ही साविकल्प या सबीज सामर्थ्य कहते हैं। इसके चार प्रकार है-

१. सवितर्क समाधि-स्थूल पदार्थों से (चाहे वह ईश्वर हो या अन्य कोई विषय हो) एकरूपता प्राप्त करना। इसे वितर्क संप्रज्ञात समाधि कहते है।

२. सविचार समाधि-सूक्ष्म वस्तु से चित्त एक होना उदाहरण के लिए पुष्प की गंध से एकरूप होना आदि। इसे विचार संप्रज्ञान समाधि कहते है।

३. सानंद समाधि-यह रज और तम इन मनोविकृतियों के निःशेष हो जाने पर सत्व के आनंद से एकरूप होना है। इसे सानंद संप्रज्ञात समाधि कहते है।

४. अस्मिता मात्र या सास्मित समाधि-ब्रह्मानंदत्व की प्राप्ति के बाद भी ''मैं ईश्वर हूँ'' इस अहंकार से एक होना (अहं ब्रह्मास्मि) पर इसमें भी एकरूपता का एहसास बना रहता है। इसे अस्मिता संप्रज्ञात समाधि कहते हैं।

असंप्रज्ञात समाधि

इस प्रकार की समाधि में ध्याता और ध्येय एकरूप होते ही हैं किन्तु ''एकरूप हो गए हैं'' यह याद नहीं रहता। इसमें सहजब्रह्मरूपता होती है। इसे ही अहसास विहीन निर्विकल्प ब्रह्मस्थिति कहते हैं। इसकी सर्वश्रेष्ठता के बारे में महाराज लिखते हैं।

* अपर वैराग्य का फल-इंद्रिय निग्रह
* अभ्यास का फल-संप्रज्ञात समाधि
* पर वैराग्य का फल-असंप्रज्ञात समाधि
* योगाचार्य घेरंड मुनि के विचार में केवल भक्ति से भी असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त की जाती है।[३३]

इसी प्रकार से अपर वैराग्य, योगाभ्यास, परवैराग्य और भक्ति से क्या-क्या प्राप्त होता है, यह बड़े संक्षिप्त रूप से बतलाते हुए योग का अंतिम फल

'असंप्रज्ञात समाधि' इसी रूप में होती है, यह बताया गया है।

असंप्रज्ञात समाधि से प्रारब्धनाश

''प्रारब्ध कर्माणां भोगादेव क्षयः'' यह सूत्र है। इसके अनुसार ज्ञानमार्ग में प्रतिपादित किया गया है कि ज्ञान प्राप्त होने पर कर्म जल जाता है और आगे बढ़ने वाला क्रियमाण कर्म भी फलपर्यवसायी नहीं हो सकता। अर्थात् उसे भुगतना नहीं पड़ता है किन्तु प्रारब्ध तो भुगतना ही होता है।

किन्तु योगशास्त्र का मत इससे भिन्न है, ऐसा महाराज स्पष्टतः लिखते है।[३४] परवैराग्य से योग की असंप्रज्ञात समाधि साध्य की जाए तो सारे कर्मों का समूल नाश हो जाता है। योगी कहते हैं कि ''असंप्रज्ञात समाधि से संचित क्रिया और प्रारब्ध दोनों ही जल जाते हैं और योगी स्वेच्छा से चाहे जब समाधि ले सकते है।'' विज्ञानभिक्षु का भी यही कहना है कि ''ज्ञान प्राप्त होने पर ही असंप्रज्ञात समाधि ली जाए जिससे प्रारब्ध को जीता जा सकता है।''

शक्तिशास्त्र के अनुसार असंप्रज्ञात समाधि अंतर्बाह्य रूप से मिल सकती है सगुण के प्रति प्रेम भाव के आधिक्य से समाधि अखंड रूप में ली जा सकती है और उससे प्रारब्ध पूरी तरह से अभिभूत हो जाता है। हृदय में ब्रह्मानुभव के समान ही बाहर भी भगवठोम के अनुभव से भक्त का चित्त प्रारब्ध को भुगतने के लिए देह पर आता ही नहीं है। सगुण श्रीहरि का आलंबन छूट नहीं पाता और इस दशा में सुख-दुखों का भोग भक्त किस तरह से पा सकेगा। इसी तरह ईश्वर प्रणिधान के साथ योग से साध्य असंप्रज्ञात समाधि से प्रारब्ध का भी नाश होता है ऐसा महाराज ने प्रतिपादित किया है।

असंप्रज्ञात समाधि के तीन प्रकार

यह असंप्रज्ञात समाधि ईश्वरप्रणिधान से बड़ी शीघ्रता के साथ प्राप्त होती है। अतः योगशास्त्र में भक्ति के उचित संयोग से योग का प्रतिपादन किया गया है। योगाचार्य घेरंडमुनि स्पष्ट कहते हैं कि योग के सिवाय केवल भक्ति के माध्यम से भी परमप्राप्ति होती है। योगसूत्र में दो स्थलों पर ईश्वरप्रणिधान के बारे में उल्लेख है उनमेंः

✻ साधनपाद के ईश्वरप्रणिधान से सप्रंज्ञान समाधि प्राप्त होती है और

✻ समाधिपाद के ईश्वरप्रणिधान से असंप्रज्ञात समाधि मिलती है।

यह असंप्रज्ञात समाधि तीन प्रकार की है-

१. अपने आप ही ब्युत्थान पाने वाली

भागवत में श्रीकृष्ण मुचकुंद राजा से कहते हैं कि योग-प्राणायाम आदि से समाधि प्राप्त की जाती है फिर भी योगी अपने आप ही व्युत्थान प्राप्त करता है। क्योंकि उसकी सारी वासनाएँ निरुद्ध होती हैं, नष्ट नहीं होती हैं। ''असीनवासनं राजन् दृश्यते पुनरुत्थिमत्'' वासनाओं के शेष होने के कारण योगी को अपने आप ही व्युत्थान होता है और जग में भ्रम ही भ्रम है यह स्पष्ट हो जाने पर उसका मिथ्या रूप पुनः प्रतीत होने लगता है। किन्तु प्रारब्ध के सुख-दुख, अल्प मात्रा में क्यों न हों, भुगतने ही पड़ते हैं। इस स्थिति में, ईश्वरप्रणिधान को न अपनाने वाला योगी अभिप्रेत है। महाराज कहते हैं-

स्वयं ही समाधि से प्रथमतः पाये व्युत्थान।।६१।।-गीता संगति

यह अपने आप ही व्युत्थान पाने वाली असंप्रज्ञात समाधि का स्वरूप है। इसे वे प्रथम प्रकार मानते हैं।

२. दूसरों से व्युत्थान पाने वाली

योगवासिष्ठ में प्रहलादाख्यान है। प्रहलाद ने असंप्रज्ञात समाधि जान ली थी। उसका व्युत्थान ही नहीं हो रहा था। वह दस हजार वर्ष समाधि दशा में था। अतः उसके असुर प्रजाजन उन्मत्त होकर देव ब्राह्मणों को त्रस्त करने लगे थे। यह देखकर भगवान् विष्णु अपने शंखनाद से उसे समाधि से जगाते हैं। यह दूसरों द्वारा व्युत्थान दिलाने वाली समाधि है।

द्वितीय है दूसरों से। व्युत्थान दिलाना।।६१।।-गी संगति

३. व्युत्थानरहित असंप्रज्ञात समाधि

तृतीय है व्युत्थानरहित। शिखिध्वज राजा सम।

वृत्तियों का कदाचित व्युत्थान होता। फिर भी भंग न हुई समाधि।।६२।।
- गीतासंगति

योगवासिष्ठ में शिखिध्वज राजा की समाधि नियति के कारण व्युत्थान पाती है किन्तु उसके ब्रह्मानंद में यत्कंचित् ही कमी नही आई। वृत्तियों का व्युत्थान होने का अर्थ है वृत्तियाँ स्फुरित होने पर भी समाधि से प्राप्त ब्रह्मानंद का अनुभव टूटता नही है। अर्थात् लोगों को लगता है कि समाधि भंग हुई है किन्तु शिखिध्वज की दृष्टि से समाधि अखंडित ही थी।

इस प्रकार की समाधि कभी भी खंडित नहीं होती। अधिक-से-अधिक महान् लोग जीवन्मुक्त दशा में लीला भाव से विचरण करते दिखलाई देते हैं, अज्ञानियों को परमार्थ का उपदेश करते हैं। फिर भी लोगों को वृत्तियों के स्फुरण की प्रतीति की अवस्था में भी उनकी समाधि वैसी ही बनी रहती है।

असंप्रज्ञात समाधि इस शब्द का अर्थ है-ध्यान करने वाला और ध्येय दोनों में अहसास रहित एकरूपता आना। इस स्थिति में जीव-ईश्वर यह भेद पूरी तरह नष्ट हो जाता है। वृत्तियों के पुनरुत्थान में भी यह भेद पुनः उत्पन्न नहीं होता। समाधि की यह अखंड स्थिति अधिभारक और ज्ञानोत्तर पराभक्ति को अपनाने वालों में सदैव कायम रहती है। महाराज कहते हैंः

इतनी प्रदीर्घ समाधि। भगवदभक्ति से पाये अखंड।
ऐसा कहते घरंड। योगाचार्य मुनि।।६६।।-गीता संगति [३५]

इस प्रकार के योगशास्त्रकार घेरंडाचार्य का प्रमाण देकर महाराज भक्तियुक्त योगशास्त्र के सूक्ष्म सूत्रों को विशुद्ध कर बतलाया है।

समाधि

त्वंपदनिष्ठ और तत्पदनिष्ठ समाधि

प्रियलीला महोत्सव इस ग्रंथ में त्वंपदनिष्ठ और तत्पदनिष्ठ ये दो नए समाधि प्रकार महाराजने बतलाए हैं। उनके बारे में जान लेना जरूरी है।

त्वंपदनिष्ठतया आत्मरूपे समाधिः।।[३६]

तत्पदनिष्ठतया प्रेममये भगवति समाधिः।।

तयोः रक्षणं तु महावाक्य निष्ठतया कृतम्। अथापि इच्छादेप्रारब्ध दोषतः

इत्यादियत्। सगुण रूपतिरोधानं अपश्यन् सन् व्युत्थितोऽस्मि। तदा तदैव रूपं दिहदृक्षुरहं पुनः ब्रह्म ज्ञानवानपि तेनैव रूपेण आकृष्ट चेताः पुनरपि समाधिनिष्ठोऽभवम्।

किन्तु तत्पदार्यनिष्ठतया वीक्षमाणोऽपि रूपदर्शनाभावेन निर्गताशया वैक्लव्यं प्राप्तवान।।

इस तरह श्रीनारद, भागवद के प्रारंभ में व्यास को बतलाते हैं। यहाँ महाराज ने 'त्वंपदनिष्ठ समाधि' और 'तत्पदनिष्ठ समाधि' के सूक्ष्म अर्थभेद को व्यक्त करने वाले दो नए शब्द बतलाये हैं। अतः भक्ति की समाधि क्या होती है, इसका रहस्य जानना संभव होगा। अब इसके बारे में हम सोचते हैं।

१. त्वंपदनिष्ठ : आत्म-अभिन्न

योगाभ्यास या ज्ञानाभ्यास से त्वंपद के स्थान पर अर्थात् अंतरात्मा के स्थान पर हृदय में 'आत्माभिन्न' समाधि धारण की जाती है। इसे साधन करते समय बाह्यनामरूपात्मक जग का व्यतिरेक करना होता है। इसे साधन करते समय बाह्यनामरूपात्मक जग का व्यतिरेक करना होता है। किन्तु इसमें समाधि से पुनः प्राप्त होने वाले व्युत्थान में नाम रूपों का मिथ्याभास बना ही रहता है।

२. तत्पदनिष्ठ समाधि : आत्म-भिन्न

उरपनिर्दिष्ट त्वंपदानिष्ठ अर्थात् आत्मा से अभिन्न रहकर प्राप्त समाधि धारण करने पर वृत्तियाँ बार-बार स्फुरित होती हैं। वृत्तियाँ हृदय से बाहर की ओर दौड़ती हैं। उस समय भक्तों की वृत्ति का विषय मिथ्या जग के नाम रूप नहीं होते हैं, प्रेमपूर्ण आनंद और इदंता के रूप में, सगुण साकार रूप में भगवद्विग्रह होता है। तब तत्पदनिष्ठ अर्थात् आत्मभिन्न समाधि को प्राप्त किया जा सकता है। इसमें भगवान का सगुण साकार रूप व्यापक दर्शन होता है। सभी नाम प्रेमरूप भगवान के ही होते है वहाँ भगवान के सुकुमार चरणों का अनुभव होता है। अनन्य प्रेम के कारण मैं की भावना लुप्त हो जाती है। अहंकार पूरी तरह से विलीन हो जाता है। संयोग और वियोग दोनों ही स्थितियों में परम प्रेम

इसी तत्पदनिष्ठा में प्रकट होता है। योग और ज्ञान से व्यतिरेकानुभव होने के बाद तत्पदनिष्ठ बाह्य समाधि पराभक्ति द्वारा प्राप्त की जाती है और अन्वय पूरा हो जाता है।

समाधि

इन दोनों बाह्य और आंतर समाधियों का संरक्षण 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य से किया जाता है।[३७] इस तत्पदनिष्ठ समाधि का उल्लेख भक्तिमय रूप योगशास्त्र में विस्तार से नहीं मिलता। इसका कारण यह बतलाया गया है कि परमप्रेम का गुरुगम्य सिद्धांत गुरुमुख से ही सुनना चाहिए। अगर इस प्रकार के सिद्धांतरूपी मोती संत साहित्य में यहाँ-वहाँ बिखरे हुए मिलते हैं। तत्पदनिष्ठ और आत्म-भिन्न इन दो नए नामों से महाराज ने समाधि के बारे में लिखा है। वह ज्ञानोत्तर भक्ति से अनुभूत होने वाली, बाहरी जान पड़ने वाली सगुण श्रीहरि में रत समाधि के अलावा दूसरा कुछ नहीं है। अर्थात् यह समाधि योगयुक्त पराभक्ति से शीघ्र साध्य है।

त्वंपदनिष्ठ समाधि को काष्ठसमाधि, गौणताप्रदर्शक नाम भी संतों ने दिया है। वह अन्वयरूपिणी भक्ति अर्थात् तत्पदनिष्ठ सहज समाधि की तुलना में निचला सोपान है। किन्तु प्रथम इसे प्राप्त किए बिना ऊपरी सोपान पर चढ़ा नहीं जा सकता अतः इसका महत्त्व अनिवार्य रूप से है, चाहे वह निचला सोपान ही क्यों न हो।

मुक्ताबाई कहती हैं-

हो गए तटस्थ नहीं वह समाधि। उपायों से शुद्धि पानी है।
काष्ठ समान जड़ हुए तुम। स्वरूप को जानो श्रम से ही।।

तुकाराम महाराज करते हैं-

तटस्थता को कहता समाधि।
खुले आम दुर्गति होती।।

महाराज लिखते हैं-

छहले कहा समाधि। वह थी तटस्थ बुद्धि।

सर्व व्यापक सिद्धि। घट नहीं सकती।।२।।[३८]

उमड़ पड़तीं नाना रूप वृत्तियाँ पर दुखदायी वे नहीं।।

आकाश में पवन, सागर में तरंग। ऐसी ही ये ब्रह्मरंग सी वृत्तियाँ सारी।।

तुममें वृत्तियाँ सारी हो लीन। जड़ बनना क्यों चाहता?।।

चेतन हे वस्तु विश्वमय स्फूर्ति। नहीं नानावृत्ति रूप हैं।।

ब्रह्म की तरंग समान मानों यह विश्व। जानकर रंग आत्मरंग का।।

जो जो वृत्तियां मेरी न कहाओ। ब्रह्म में करें स्थिर बुद्धि।।[३९]

इस तरह से महाराज ने संतों के उद्धरणों की सहायता से सविस्तर विवेचन किया है। त्वंपदनिष्ठ निर्गुण व्यतिरेक समाधि को काष्ठ समाधि या तटस्थ समाधि आदि नामों से पुकारकर उसका सहज समाधि की दृष्टि से गौणत्व स्पष्ट करना चाहा है। काष्ठ के समान जड़ होकर समाधि का सुख भोग करने की अपेक्षा ''वृत्तियों के स्फुरित होने पर भी ब्रह्मसुख में कोई कमी नहीं आती'' यही श्रेष्ठ अवस्था मानी जाए। और अनध्यस्त विवर्त श्रीकृष्ण पर प्रेम करने मात्र से ही यह सहज समाधि सहजता से प्राप्त होती है। इस बात को महाराज युक्तिपूर्वक स्पष्ट करते हैं। इसे पढ़ते समय मराठी कवि श्रीधर की इस उक्ति का समरण होता है–

''बोलता चालता फिरता। पर उसकी समाधि न टूटती।''

कुल मिलाकर महाराज दो बातें स्पष्ट करते हैं–

* 'नेति नेति' इसे श्रुति में वर्णित त्वंपदनिष्ठ निर्गुण समाधि का स्वरूप, और

* सर्वगंधः सर्वरसः। सहस्त्रशीर्षः सहस्त्रपादः। इस श्रुति में वर्णित अन्यय रूप भक्ति से प्राप्त तत्पदनिष्ठ समाधि का स्वरूप। इसमें वृत्तियों का स्फुरण है, व्युत्थान है, सर्वनामरूप चिद्‌विलासप्रत्यय है। इस तरह से महाराज समाधि की अनुभूति के सूक्ष्म सूत्रों को सुलझाकर बतलाते हैं। उनमें कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर अब जानना चाहिए।

समाधि से सर्वज्ञता

समाधि प्राप्त होते ही योगी सर्वज्ञ बन जाता है। हम अक्सर सुनते है कि ''येन विज्ञातेन सर्व विज्ञातं भवति''। योगशास्त्र में इसके उपाय बतलाते हैं। यह एक नई बात अवश्य है। विभूतिपाद में कहाँ-कहाँ संयम रखने पर किन-किन विषयों का ज्ञान हो सकता है इस बारे में विस्तार से लिखा है। उन सबका मतितार्थ महाराज के योगप्रभाव इस ग्रंथ में सम्मिलित है।

जिस समाधि दशा में शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों एकरूप होकर मन में उभरते हैं उसे सवितर्क समाधि कहते हैं। अर्थात् विष्णु पर चित्त एकाग्र किया जाए तो विष्णु के वैकुंठ में होने पर भी योगी को उसका साक्षात्कार वहीं होगा। इस सवितर्क समाधि में जो साक्षात्कार होता है उसे 'अपर प्रत्यक्ष' कहते हैं। इसके भी दो प्रकार हैं-प्रज्ञाप्रत्यक्ष और इंद्रियप्रत्यक्ष।

प्रज्ञाप्रत्यक्ष का अर्थ है जिस ज्ञान में कोई संदेह शेष नहीं रहता ऐसा ज्ञान। जैसे-मन है यह हम प्रत्यक्ष रूप से समझ सकते हैं किन्तु आंखों से दिखाई नहीं देता। साथ ही इस ज्ञान से किसी भी प्रकार की रुकावट भी पैदा नहीं होती। जिसमें संदेह उत्पन्न होने की कोई बात ही नहीं होती वही ज्ञान प्रज्ञाप्रत्यक्ष या आत्मप्रत्यक्ष कहलाता है। समाधि में योगी 'ऋतंभरा' नामक प्रज्ञा प्राप्त होती है, इसकी सहायता से योगी सभी विषयों को देख सकता है।[४०]

इसमें शब्द का स्मरण नहीं होता अर्थात् मन में शब्द के न उभरने पर भी अर्थ त्रिपुटिरहित ध्यान केंद्र में उभरता है और चित्त मात्र तन्मय हो उठता है। इसे निर्वितर्क समाधि कहते हैं। शब्द का संकेत छोड़कर केवल अर्थ को ही ध्यान में धारण कर योगी अन्य विषयों का साक्षात्कार करते हैं वही यह निर्वितर्क समापत्ति है। इसमें वस्तु के साक्षात्कार के लिए अनुमान व शब्दों की आवश्यकता नहीं है। जहाँ चित्त जाता है वहीं उसे ज्ञान प्राप्त होता है। शब्द के स्मरण से ही योगी ज्ञान प्राप्त करेगा, ऐसी स्थिति यहाँ कदापि नहीं होती।

''योगी को प्राप्त यह प्रत्यक्ष ज्ञान ही शास्त्र और अनुमान के लिए

बीजरूप है।'' (योगप्रभा, व पृ.४५६)

ज्ञानेश्वरी में, जैसा कहा गया है, कि ''सभी शास्त्रों के बीच का अपरिचय का भाव समाप्त होने का स्थान'' यही है। न्याय, व्याकरण, सांख्य, योग, वेदांत आयुर्वेद आदि शास्त्र व्यवहार में परस्पर लड़ते-झगड़ते हैं किन्तु इन सबका मूल रूप उस एक समाधि दशा में ही है। अतः बाहर भले ही वे एक-दुसरे का विरोध करते दिखलाई दें मूलतः उनमें कोई भेद नहीं है। यही ''सकल शास्त्रांची अनोळखी फिटे।'' ओवी का आशय है।

अंतःस्फूर्ति का ज्ञान

ज्ञान होने के तीन प्रकार हैं-निसर्गतः इंद्रियों से प्राप्त ज्ञान, विचार ज्ञान और अंतःस्फुर्ति ज्ञान। जिस योग में विचार के बिना संतुष्टि मिलती है वह 'अंतःस्फूर्ति का अंतःस्फूर्ति ज्ञान' कहलाता है। यह ज्ञान सारे ज्ञानों से उच्च है। किन्तु इस ज्ञान में विचार का विरोध नहीं होता। वह भी विचार में ही सम्मिलित हो जाता है और दूसरों को वह विचार के रूप में ही मिलता है। समाधि में योगी को ऋतंभराप्रज्ञा उत्पन्न होकर अंतःस्फूर्ति प्राप्त होती है। सवितर्क समाधि में भी किसी भी विषय का ज्ञान अंतःस्फूर्ति से ही प्राप्त होता है।

बड़े-बड़े शास्त्रज्ञ भी एकाग्रावस्था में जाकर ही महान् खोज करते हैं। उन सभी नए विचारों का स्फुरण इस सवितर्क समाधि में ही होता है। किन्तु वे शास्त्र अनजाने में ही उस एकाग्र अवस्था में चले जाते हैं और योगी समझ-बूझकर उस अवस्था को प्राप्त करते हैं। यही इन दोनों में अंतर है।

निर्वितर्क समाधि में शब्दों के बिना ही सभी अर्थों का ज्ञान होता है। अतः इसे सवितर्क समाधि से श्रेष्ठ माना जाता है। सभी भारतीय शास्त्रकारों ने आयुर्वेद, न्याय, सांख्य, ज्योतिष, संगीत, गणित आदि सब तरह के लौकिक और अलौकिक शास्त्रों का ज्ञान इस निर्वितर्क समाधि से प्राप्त किया है अतः इसमें वर्णित ऋतंभरा प्रज्ञात्ते प्राप्त हैं, यथार्थ ज्ञान हैं इस कारण इन सब शास्त्रों में विषय को उसकी गहराई में परखा गया है। अतः आज चाहे जितनी खोज

की जा रही है उन सबका संदर्भ प्राचीन आर्यशास्त्र में कहीं-न-कहीं उपलब्ध अवश्य है। समाधि में प्राप्त ज्ञान के अनुसार ऋषिमुनियों ने सूत्र की रचना की और फिर उनकी शिष्य परंपरा ने उस शास्त्र का विकास किया। अतः भारतीय शास्त्रों का विकास विशाल है किन्तु उसमें मूल से हटकर नया बताने योग्य अब कुछ शेष नहीं है। उसकी बारीकियां नए ढंग से बतलाई जाती हैं। किन्तु मुल विरोध में कुछ नहीं कहा जा सकता। यह भारतीय शास्त्र की विशेषता आज भी अनुभूत की जा रही है। दार्शनिक समाधि में प्रज्ञाप्रत्यक्ष द्वारा विषय को साक्षात्कार करते है और तद्नुरूप शास्त्ररचना करते हैं। कम शब्दों में सर्वतोमुखी सूत्ररचना की गई है। आगे चलकर इन्हीं सूत्रों पर विचारवंत अभ्यास करते है। देशकालानुरूप उत्पन्न समस्याओं का हल ढूँढ़ निकालते हैं। इस क्रम से ही इन शास्त्रों में विकास होता गया। किन्तु यह सारा विस्तार मूल रूप से सूत्र में ही उपलब्ध है।

इसके विपरीत पाश्चात्य परंपरा में पुराने विचारों को त्याज्य मानकर फिर अपने नए विचार शास्त्रज्ञ रखते हैं। नई खोज को मुर्दों की तरह गाड़ देती है। हमारी भारतीय संस्कृति में ऐसा नहीं होता। तर्क और प्रयोग दोनों ही परस्पर मिल-जुलकर मूल सूत्र के विचारों को विस्तार देते हैं। इसी कारण भारतीय शास्त्र में एकदम से नया ऐसा कुछ दिखाया नहीं जा सकता किन्तु उसका आयोजन अवश्य नए ढंग से होता है। इसी तरह से यहाँ शास्त्र के विस्तार के लिए अमाप अवसर हैं किन्तु मूल सूत्र उसी रूप में कायम रहते हैं और रहेंगे। इस समाधि स्थिति में प्राप्त ज्ञान को कोई भी ऋषिमुनि अपना नाम देने के लिए तत्पर नहीं है। सारे कार्य का श्रेय वे ईश्वर को ही देते है। अतः सभी ज्ञानशाखाओं को ईश्वरप्रणित ही माना गया है। उनका त्रिकालबाधित्व भी इस कारण ही सच सिद्ध होता है।

उसे सिद्ध प्रज्ञा से पाया जाय। मन में साहित्य प्रसूत होय।
सभी शास्त्र स्वयंभू कहलाये। मुख से फूट पड़ते।।-ज्ञाने.४५४-५६१।।

इसी तत्त्व के अनुसार शास्त्र की तह में जाकर चर्चा करने पर महाराज

की वृत्ति का परिचय मिलता है। महाराज की छोटी उम्र, जन्म से प्राप्त अंधापन, छोटे गाँव में जन्म, शिक्षा का अभाव आदि सभी कठिनाइयाँ होते हुए भी विस्तृत (प्रकांड) वैचारिक साहित्य रचना निर्मिति का रहस्य समाधि की इस ऋतंभरा प्रज्ञा में ही समाविष्ट है। ऐसा कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं लगता है।

वेदों का अपौरुषेयत्व

सभी वैदिक और आस्तिक दर्शन प्रभाव और युक्तियों के साथ बतलाते हैं कि वेद अपौरुषेय हैं, वेद ईश्वर प्रणित हैं, नित्य हैं, ब्रह्मदेव के मुख से सृष्टि के आरंभ में वेद का प्रादुर्भाव हुआ। ''यस्य निश्वसितंवेदाः'' ऐसे अनेक प्रमाण देकर सिद्ध किया है। किन्तु महाराज प्रमाण और युक्ति को अपने अनुभव से भी जोड़ते हैं। योगशास्त्र से प्रायोगिक रीति से वेद की अपौरुषयता का, ईश्वर प्रणित तत्त्व का, उसकी नित्यता का अनुभव किस तरह से लिया जाए इसका विवेचन कर योगशास्त्र के महत्त्वपूर्ण अंश पर प्रकाश डाला है।

योगियों और ज्ञानमार्गियों को समाधि दशा में अनहद नाद सुनाई देता है। योगियों ने 'शब्द' पर ''धारणा-ध्यान-समाधि रुपी संयम'' किया है अर्थात् अनहद नाद के दस प्रकार प्रथम सुनाई देते हैं, फिर ओंकार ध्वनि सुनाई देती है। योगी उपासना यदि केवल निर्गुण उपासना है तो उसे केवल दस प्रकार के अनहद नाद सुनाई देंगे। किन्तु यदि वह ईश्वर प्रणिधानपूर्वक संयम धारण करता हुआ योगी होगा तो उसे ओंकार के बाद वेदों में मंत्र भी सुनाई देते हैं। इसे ही ''वेदश्रवण'' कहते हैं। इन मंत्रों की संख्या अनंत है। ''अनन्ता वै वेदाः'' इनमें से कुछेक ही ऋषियों ने लोककल्याण के लिए प्रकट किए हैं और अन्य शेष तो सामान्यों के लिए अव्यक्त ही है। सृष्टि के प्रारंभ में ओंकार उत्पन्न हुआ। फिर ब्रह्म के मुख से वेद उत्पन्न हुए। यदि शब्द के समान ही उत्पन्न होते ही उसका लय (लुप्त होना) हो जाता तो ऋषियों-मुनियों का स्वर बार-बार सुनाई नहीं देता। किन्तु वेद नित्य हैं अतः वैदिक ऋषियों पौराणिक मुनियों, योगियों और संतसत्पुरुषों को समाधि में वेद ज्यों के त्यों आज भी सुनाई देते हैं इस पूरे विषय पर महाराज 'योगप्रभाव' में विस्तार के साथ लिखते हैं।

''नाद कण्ठ से उत्पन्न होता है अतः जीभ के मूल में इसकी धारणा होती है। वहाँ शब्द के धारण होते ही प्रथम अनहद नाद सुनाई देता है और फिर ओंकार और फिर दिव्य शब्द सुनाई देते हैं। ये दिव्य शब्द अर्थपूर्ण होते हैं। यह केवल धारणा का फल है। यदि इसीं धारणा को ईश्वर के प्रणिधान के साथ स्वीकारा जाता है तो पहले ओंकार (चूँकि वह दिव्यशब्द है) ही सुनाई देगा और फिर श्रुतियाँ सुनने में आएँगी (यो गप्रभा व.पृ.२४५२४६) ऋषियों ने भी इसी रीति से श्रुतियाँ सुनी थीं। भागवत में ''वृत्तिरोधाद्विभाव्यते'' अर्थात् धारणा से ही प्रणव सुनाई देता है।[४१]

ऐसे इस ध्यानयोग से ही सर्वधर्म के संस्थापक ईश्वर का साक्षात्कार कर उनकी वाणी का श्रवण करते हैं और फिर लोगों के अधिकार के अनुरूप अलग-अलग धर्मों की स्थापना करते हैं। विवेकानंद भी कहते हैं कि सभी धर्मों की प्रवृत्तियाँ ध्यानयोग से ही प्रकट हुई हैं।[४२]

❊ इस तरह से शब्द पर संयम होने से योगी भक्तों को अनहद नाद वेद रूप में सुनाई देता है। इसी कारण वेदों को श्रुती (अर्थात् सुनने योग्य सुनी हुई) यह सार्थ नाम दिया गया है।

❊ कोई भी, कभी भी योगाभ्यास द्वारा वेदमंत्र को सुन सकते हैं, देख सकते हैं अतः वेदमंत्रों को 'नित्य' कहा गया है।

❊ इन मंत्रों को किसी ऋषि या जीवपुरुष ने रचा नहीं है अतः इन्हें 'अपौरुषेय' कहते हैं और 'अनाहत' का अर्थ है किसी के भी द्वारा न बजाए गये-अपने आप ही उत्पन्न होने वाले।

ऐसे इन सनातन वैदिक सिद्धांत का योगमार्ग द्वारा अनुभव कैसे प्राप्त किया जाए इसका विस्तारपूर्वक विवेचन और मार्गदर्शन महाराज 'योगप्रभाव' में करते हैं, उसी तरह से 'संप्रदायसुरत' के आठवे अध्याय की ओवियों[४३] में सूत्रबद्ध रचना की है।

१. योगी के चित्त का परमेश्वर हृदयाकाश के अनहद नाद से श्रुति व्यक्त करता है। तब पहले ओंकार व फिर चारों वेद सुनाई देते हैं।

२. या कुंडलिनी के जाग्रत होने पर स्वाधिष्ठान नामक चक्र पर योगी आरूढ़ होते ही ब्रह्मदेव अपने चार मुखों से वेद बतलाते हैं, यूँ साक्षात्कार होता है।

३. या कुंभक धारण कर ब्रह्मदेव का ध्यान हृदय में करने पर वहाँ भी अनहदनाद और उसमें सार्थशब्दोत्पत्ति अर्थात् वेद सुनाई देते हैं।

वेदों का वह अर्थ हमें ही ज्ञात था।
अन्य केवल वहन करते शिरोभार।।

तुकाराम महाराज के इस कथन का अर्थ और उससे सूचित होता सिद्धांत उपरोक्त ही है।

स्वयं महाराज भी शूद्र थे। उन्हें वेदाधिकार प्राप्त न था। उन्होंने किसी के पास वेद पठन भी नहीं किया था। वेद पढ़कर याद भी नहीं किए। वे जन्म से अंधे थे। उन पर शिक्षा के संस्कार नहीं हुए थे। इतना होने पर भी उन्होंने उनके साहित्य में स्थान-स्थान पर वैदिक श्रुतियों के प्रमाण दिए हैं। इसका अर्थ यह होता है कि महाराज का उपरोक्त स्वानुभूति का सिद्धांत ही सही है ऐसा जान पड़ता है। योग की धारणा से वेद प्रत्यक्ष होते हैं। श्रुति रूप में सुनाई देते हैं। अतः वे अपौरुषेय और नित्य हैं। आज भी किसी की इच्छा हो तो वह शास्त्रानुसार योग प्रयत्न करे और इस सिद्धांत का व्यवहारिक (प्रायोगिक) पक्ष का अनुभव प्राप्त करें। इस तरह अनुभव से भरपूर युक्तिवाद के रूप में मानो पुराना ही सिद्धांत अपना ही उदाहरण आप बनकर नए ढंग में महाराज ने प्रतिपादित किया है। यही उनकी विशेषता है।

ईश्वरप्रणिधान

ईश्वरप्रणिधानाद वा।।२३।।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ।।२८।।

समाधिपाद समाधि सिद्धिरिश्वरप्रणिधानात्।।४५।।

इस तरह योगशास्त्र के इन सूत्रों में भक्ति को ऊँचा स्थान दिलाया गया है। इस स्थान विशेष के बारे में महाराज विस्तार से बतलाते हैं।

''ईश्वरप्रणिधानाद्वा'' इस समाधिवाद के सूत्र के 'वा' इस अव्यय का अर्थ कुछ लोगों ने पर्याय कहा हैं, और ईश्वरप्रावधान को गौण माना है। महाराज 'वा' का अर्थ पर्याय मानते है किन्तु उसमें योग और भक्ति में समानता दर्शाते हैं। इसके अलावा एक और अर्थ स्पष्ट करते हैं। 'निश्चय' और योगसाधना के साथ समुचित ईश्वरप्रणिधान होना ही चाहिए। अथवा केवल ईश्वरप्रणिधान से 'असंप्रज्ञातसमाधि' प्राप्त हो सकती है, घेरांडाचार्य का उदाहरण देकर ईश्वरप्रणिधान का महत्त्व स्पष्ट किया है।

समाधिपाद मे पहले तीव्र संवेग से योग किया जाता है, ऐसा कहा गया है और इन सूत्रों में कहा गया है कि वही कार्य ईश्वरप्रणिधान में भी संभव है। 'वा' यह शब्द व्याकरण के अनुसार पर्यायवाची हैं अतः तीव्र संवेगों के न होने पर भी समाधि ईश्वरप्रणिधान से प्राप्त की जाती है, ऐसा अर्थ स्पष्ट किया गया है। यह सूत्र योगशास्त्र में महत्त्वपूर्ण माना जाता है। क्योंकि इसमें भक्ति को स्वीकार किया गया है। भाष्यकार 'प्रणिधानात्' का अर्थ 'भक्तिविशेषत्' करते हैं और 'वार्त्तिककार' 'भक्तिविशेष' का अर्थ 'प्रेमलक्षणा भक्ति' करते हैं।

साधनपाद में ईश्वरप्रणिधान का अर्थ ईश्वर की पूजा अर्चना, नियम आदि गौण भक्ति माना है। इससे संप्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। ''गौण्या तु समाधिसिद्धिः'' शांडिल्य का सूत्र इसी बात का द्योतक है और इसके बाद उपास्य में परम प्रेम का प्रादुर्भाव होने पर असंप्रज्ञात समाधि प्रेमलक्षणा पराभक्ति प्राप्त होती है। अपने आप जिस तरह से हम प्रेम करते हैं वैसा ही प्रेम हम ईश्वर से करने लगते हैं। समाधिपाद में उसका नाम ईश्वरप्रणिधान है। इसके योग से ही असंप्रज्ञात समाधि तीव्र संवेग के न होने पर भी शीघ्र ही सिद्ध हो जाती है।

केवल निर्गुणध्यान की अपेक्षा सगुणध्यान से विषयासक्त चित्र शीघ्र ही निवृत्त होता है। विषय स्वयं ही पीछे रह जाते हैं और शीघ्र ही वैराग्य प्राप्त होता है। अतः 'वा' इस पर्यायी शब्द का अर्थ निश्चयार्थी है। अतः हमें जो

परमेश्वर में भली लगेगी वही ध्यान उपासना की जाए।[४४]

भक्ति न हो योगादि से। चित्रवृत्ति न शांत होती साफ।

और मुकुंद सेवा न होती युद्ध। मनोवृत्ति सहज ही शांत होती।।५।।

अजपा जप करता उलटे प्राणों से यहाँ भी नाम का निश्चय रहता।।

ज्ञाने. हरिपाठ।।

ऐसी गुनकाणी हरिपाठ ग्रंथ में योग दृढ़ता नाम से थी।।

और मेरा एक अनुभव है। भक्ति विना चित्त को ठौर नहीं मिलता।।[४५]

भक्ति न हो तो केवल योग से, चित्तवृत्तियों का निरोध होगा किन्तु वे नष्ट नहीं हो सकेंगी। अतः समाधि से व्युत्थान होने पर फिर वासना उत्पन्न होती है, सुख-दुखों के भोग किए जाते हैं। इसलिए वृत्तियों के व्युत्थान में सभी वृत्तियां सगुणविग्रह पर अर्पित की जाती है और भीतर समाधि और बाहर भक्ति अर्थात् भीतर निर्गुणानंद और बाहर सगुणानंद, ऐसा एक ही ब्रह्मानुभव अखंड बनकर स्थित होता है। ऐसे पूर्णब्रह्म रूप चिद्विलास की प्रतीति पाने के लिए ईश्वरप्रणिधान की आवश्यकता है। इस पूरे विवेचन का सारांश यह है कि-

१. साधनदशा में ईश्वरप्रणिधान से संप्रज्ञात समाधि

२. समाधिपाद दशा में ईश्वरप्रणिधान से असंप्रज्ञात समाधि

३. बाद में प्रयुक्त ईश्वर प्रणिधान से व्युत्थान में भी ब्रह्मरूप प्राप्त होकर योगी पूर्ण सिद्ध होता है।

प्रणिधान के भिन्न उपायों का प्रयोजन

समाधि के लिए ईश्वर प्रणिधान आवश्यक है और योग के अतिरिक्त ईश्वरप्रणिधान से ही समाधि प्राप्त होती है और योग से वह सरल भी है। ऐसी दशा में प्रश्न यह उभरता है कि फिर योगशास्त्र क्यों बतलाया जाता है? महाराज इस प्रश्न का उत्तर दो सुंदर उदाहरणों से देते हैं-

१. यदि हम भोजन की तुष्टि चाहते हैं तो भोजन का सारा अनाज एकत्रित करें, अन्न पकाएँ और खाएँ तो संतुष्टि होगी अथवा माँ से प्रेमपूर्वक

हठ कर भोजन की माँग करें तो वह खिलाती है।

उसी तरह से योगशास्त्र के अनुसार कष्ट करते हुए अपने प्रयत्नों से समाधि-सिद्धि प्राप्त करें। इस योग को कैसे सम्पन्न किया जाता है, इस पर अनेक शास्त्रकारों ने विविध ढंग से योगशास्त्र की रूपरेखा स्पष्ट करते हुए विस्तृत विवेचन किया है। आगे चलकर यही शास्त्रकार बतलाते हैं कि योग का अध्ययन करते समय ईश्वर प्रणिधान हो तो योग के बिना भी फल सिद्धि होती है।[४६]

२. दूसरा उदाहरण रोगी का है। रोगी को प्यास लगने पर वह उठकर पानी पीता है तो उसकी तृष्णा शांत होती है। यदि वह उठकर बैठ नहीं जाता तो उसे कोई पानी पिलाए। इन दोनो पिलाने के साधनों में भिन्नता होने पर भी तृष्णा शमन में किसी प्रकार का भेद नहीं है।

इस अर्थ में जो स्वयं ही प्रयत्न करने में असमर्थ है जिसका चित्त निर्गुण में प्रवेश पा ही नहीं सकता, उसे केवल ईश्वराधना करनी चाहिए ऐसा पर्यायी मार्ग शास्त्रकार सुनाते हैं। उपाय के लिए पर्याय बतलाने पर भी फल एक ही है। अतः ईश्वराधन को गौण मानना सर्वथा भूल है। अतः जो योग के कष्ट करने में असमर्थ है वह कृपावंत भगवन्माता से स्तनपान की याचना करे। जिससे शारीरिक कष्ट न होते हुए केवल प्रेम से ही असंपज्ञात समाधि तक भगवती माता की गोद में बैठकर ही पहुँचा जा सकता है।[४७]

* योग के प्रयत्न के बिना ही ईश्वर प्रणिधान की प्रमुखता बतलाई जाती तो बिना प्रयत्न किए ही परमेश्वर ही हमारा उद्धार करेगा इस भावना से कई जीव ग्रस्त हो उठते। केवल इसी कारण से।

* जीव प्रयत्न से प्रारंभ करे और वह ईश्वरप्राप्ति में सफल हो यह विचार भी प्रबल हो इस भावना से ईश्वरप्रणिधान का क्रम बाद में आता है।[४९]

* सही मुमुक्षुत्व न होकर भी केवल सिद्धि की आशा से कामी लोगों की योग की और दौड़ प्रारंभ होती है। कामना का नियम कुछ यु है कि उसकी जितनी पूर्तता होगी उतनी ही बढ़ेगी। आग में घी के समान काम देगी। इन कमियों को

यदि ईश्वर प्रणिधान बतलाया जाए तो 'ईश्वर के ऐश्वर्य हमें भी प्राप्त हो' ऐसी कामना कर बैठेंगे और एक बार ईश्वर के नित्य ऐश्वर्य की वासना बलवती हुई कि कभी वैराग्य की प्राप्ति नहीं हो सकती और परिणामतः वैराग्य के बगैर यह कामी ऐश्वर्य के साक्षी नहीं बन पाएँगे वरन् ऐश्वर्य के भोक्ता कहलाएँगे।[४०] अतः योगशास्त्र नें वैराग्य और स्वप्रयत्न पर बल दिया गया है।

* कामी लोगें की वासना सिद्धि में पर्यवसित होने के कारण भिन्न-भिन्न सिद्धियों के लिए भिन्न-भिन्न उपाय बतलाए गए हैं। उसके लिए कठिन परिश्रम भी करना होता है और अंत में उपायसाध्य सिद्धियाँ फलदायिनी हैं, अतः अनित्य ही हैं, अतः उनका कोई उपयोग नहीं है।

अतएव जैसे विषयों में दुःख है वैसे ही इन सिद्धियों की प्राप्ति में भी दुःख ही है। इन्हीं कारणों से इहलोक के भोग के समान पारलौकिक व सिद्धिजन्य भोग भी श्वानशौच की तरह त्याज्य है। कामी धर्मनिष्ठावंतों के मन में यह विचार बार-बार आया और उन्हें वैराग्य की प्राप्ति हो, यही ईश्वरप्रणिधान भिन्न अनेक उपाय बतलाने का उद्देश्य है।[५०] ऐसा महाराज स्पष्ट करते हैं।

ईश्वर प्रणिधान के दो (नए) प्रकार आत्म-अभिन्न व आत्मभिन्न

महाराज ईश्वर प्रणिधान में भी बिलकुल नए प्रकार बतलाते हैं। आत्म से अभिन्न और आत्मा से भिन्न यह वे प्रकार हैं। अतः 'नेति-नेति' और सर्व गन्धः सर्वरसः इन दो श्रुतियों का विरोधभाव नष्ट हुआ और उनमें सूत्र संगीत प्राप्त हुई है।[५१]

ईश्वरप्रणिधान

(योगप्रभाव यष्टि [१५] ओवी ८२-११८)

द्विविध ईश्वरप्रणिधान। आत्माभिन्न। निर्गुण प्रणिप्रधान आत्माभिन्न। और आत्मभिन्न सगुणपूजा।।८२।। परमेश्वर की वर्णना में। द्विविध उल्हसित हुई श्रुतिमाता। निषेध और विहित। वाक्यों के साथ।।८६।। वहां 'नेति नेति' आदि वचन थे। जो नहीं प्रवर्तन कर पाते आत्मभिन्न से। 'सर्वगन्धः सर्वरसः'

इ. वचन में। आत्मभिन्न प्रवर्तन करते।।८७।। अतः स्वयत्नों से आत्म अभिन्न परेशप्रणिधान। पहला यह मुख्ययोग बतलाकर। स्वभिन्नेश प्रणिधान। पर्याय रूप में कहलाए।।९३।।

आत्म अभिन्न प्रणिधान

आत्मा से अभिन्न ऐसा जो ईश्वर है। उसके प्रणिधान का अर्थ है- निर्गुण का ध्यान, ओंकार का जप, और देहादि सभी बाह्य पदार्थों का 'नेति नेति' इस श्रृति काव्य द्वारा निषेध जतलाकर, हृदयस्थ आत्मा में सभी वृत्तियों को लुप्त करना। इसके लिए योग के कष्टपूर्ण प्रयत्न करने होते हैं। उसके परब्रह्म के व्यतिरेक का अनुभव प्राप्त होता है। निर्गुण समाधि स्थिती को योगी, ज्ञानी या भक्त को पानी ही होती है। इसके पश्चात् ही अन्वयानुभव ले सकते हैं।

आत्मभिन्न प्राणिधान

किन्तु जिसका चित्त निर्गुण में प्रवेश नहीं पा सकता, वह पहले से स्वयं ईश्वर भिन्न है। इस भावना से मूर्ति आदि में ईश्वर की स्थापना करता है। इसे उपासना कहते हैं। इस उपासना के पूरा होते ही समाधि प्राप्त होती है। ''गौण्या तु समाधिसिद्धि'' शांडिल्यभक्तिसूत्र। 'ददामि बुद्धियोगम्' मैं अपने उपासकों को बुद्धि देता हूँ। ऐसा गीता में श्रीकृष्ण ने आश्वासन दिया है। साधनपाद में वर्णित ईश्वरप्रणिधान यही है।

ऐसी समाधि के बाद अर्थात् अद्वैतज्ञान की प्राप्ति के बाद भक्त की वृत्ति व्युत्थान से स्फुरित होने पर वे भगवान के सभी गुण रूपों पर अर्पित होते हैं और भीतरी निर्गुण ब्रह्मानंद के समान ही सगुण ब्रह्मानंद उससे मिलकर अन्वय रूपी पराभक्ति उसे प्राप्त होती है। इसे ही निवृत्तिक ब्रह्मप्राप्ति अर्थात् सहजावस्था कहते हैं।

ऐसा प्रणिधान जिसका करना है वह ईश्वर, पंचक्लेशरहित कैसे है, इस बात को महाराज ने भगवान श्रीकृष्ण के स्वरूप को बतलाते हुए विस्तार से बतलाया है।

ईश्वर का पंचक्लेशरहित स्वरूप

१. अविद्या–भगवान श्रीकृष्ण के रूप में स्थित परमात्मा को अविद्या का कष्ट या क्लेश कदापि नहीं था। क्योंकि ''देह ही आत्मा हैं'' ऐसी भावना उनमें कदापि नहीं थी।

२. अस्मिता–यदि कृष्ण देह तक ही सीमित होते तो वे अपने मुख में समाहित अनन्त ब्रह्माण्डों के दर्शन अपनी माँ को नहीं करवा पाते अतः अस्मिता का कष्ट भी उनके पास नहीं था।

३. राग–प्रीति या राग का क्लेश नहीं था क्योंकि यादव कुल का नाश उसने ही स्वयं किया था।

४. द्वेष–शिशुपाल आदि का वध कर लेने के बाद उनकी ज्योति को वे आने में ही समेंट लेते हैं, इससे स्पष्ट होता है कि उनमें द्वेष भाव भी नहीं है।

५. अभिनिवेश–श्रीकृष्ण में अभिनिवेश भी नहीं था। गांधारी जब उन्हें शाप देती हैं, तो उनके मुख से वचन निकलते है। ''मां, मैं इसी शाप की बाट जोह रहा था।'' अतः उसे मृत्यु का भी भय नहीं था। दूसरे, प्रयणकाल में भी उद्धव को ज्ञान का पाठ पढ़ाकर आनंद से वह निजधाम को प्रस्थान कर गए।

६. पुण्य–पुण्यकर्मों से भी वह मदमस्त नहीं हो सका क्योंकि वे भी उसे स्वर्ग नहीं दिला सके।

७. पाप–गोपियों से व्यभिचार आदि पाप कर्मों का फल उसे मिला नहीं है अथवा उस कर्म के प्रति उसमें वासना भी शेष नहीं रही। ये सारे श्लेष भगवान् कृष्ण को किसी भी काल में नहीं हुए अतः जीव के लिए वह परम पूजनीय है।[५२]

सगुण निर्गुण दोनों जिसके अंग
वही हम संग रास रचे।। – तुका.

इस तरह से ईश्वर का स्वरूप और ईश्वर प्रणिधान के बारे में महाराज के विचारों को समझा। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि–

१. ''ईश्वर प्रणिधानाद्वा'' इस सुत्र में 'वा' अव्यय विकल्पार्थी मान लेते

हैं तो ईश्वरप्रणिधान 'सम' फल देता है अतः योग की तुलना में गौण न ठहरकर समान जान पड़ता है।

२. ''वा'' यह अव्यय निश्चयार्थी माना जाए तो योग आचरण करते समय ईश्वर प्रणिधान सदैव रहना ही चाहिए। वासनाक्षय व मनोनाश की प्राप्ति ईश्वर प्रणिधान से ही होती है अतः यह प्रमुख है।

३. योग द्वारा असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त करने पर चित्त फिर से व्युत्थान पाता ही है। उस समय मनोनाश और वासनाक्षय के लिए अर्थात् प्रारब्धभिभव होने के लिए सगुणभक्ति की आवश्यकता होती है अतः वह ईश्वरप्रणिधान योग से श्रेष्ठ है।

४. केवल भक्ति होगी तो योग का प्रयत्न न करते हुए भी योग की प्राप्ति होती है। किन्तु भक्ति योग के लिए अनिवार्य है। अतः ईश्वरप्रणिधानरूपी भक्ति 'अंगी' है और योग 'अंगरूप' है। इस रूप में महाराज ईश्वरप्रणिधान के वास्तविक रूप को दिखलाकर योग के सूक्ष्म तत्त्वों को सुलझाकर बदलाते हैं।

योग का त्याज्य अंश

जब पुरुषबहुता, ईश्वरभिन्नता और प्रकृतिसत्यता का परित्याग किया जाता है तब योग वेदांतशास्त्र का पूरक कहलाता है। वेदांत में भी परमार्थ प्राप्ति की कोशिश करने के लिए प्रारंभ में ही पुरुषबहुता को मानकर स्वयं अकेले में ही अध्ययन करना होता है। उस समय ईश्वर को कर्मफलदाता और स्वयं से भिन्न मानकर उसकी उपासना की जाती है। किन्तु जैसे-जैसे साधक परमार्थ की ओर बढ़ता है वैसे-वैसे उसे 'एकजीववाद', ''ईश्वर और मैं अभिन्न हैं'' यह उच्च विचार बतलाया जाता है और ज्ञानसंपन्न होते ही उसे प्रकृति ही झूठ है यह मूल उपदेश दिया जाता। अंत में परमार्थ के मार्ग में प्रारंभ में महत्त्वपूर्ण जाने गए पुरुषबहुलता, ईश्वरभिन्नता और प्रकृतिसत्यता उन सिद्धांतों को छोड़ देना होता है। अतः इनके परित्याग से स्वयमेव ही वेदांत से समन्वय प्राप्त हो जाता है। अर्थात् जीव के अज्ञानी रहने तक ये तीनों सिद्धांत सच जान पड़ते है और वेदांत से ज्ञान प्राप्त होते ही ये अपने आप छूट जाते हैं।[५३]

योग और भक्ति : तुलना

महाराज योग और भक्ति की तुलना मर्म तक पहुँचकर करते हैं। उन्होंने योग की विविध प्रक्रियाएँ बतलाई हैं, योग की आवश्यकता को प्रतिपादित किया है। किन्तु योग के पूर्ण संपन्न होते ही भक्ति करनी पड़ती है। गीता के इस सिद्धांत [५४] और अपने अनुभवों में महाराज ने समानता देखी है । अतः दोनों में भेद को बतलाते हुए वे भक्ति की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हैं फिर भी योग के प्रति अनादर की भावना की प्रतीति कहीं नहीं होती। यह उनकी विशेषता है। इन दोनों की तुलना करते समय वे अनुकूल उदाहरण भी देते है।

१. पतिव्रता और योगी के मनोभावों का विचार करने से यह पता चलता है कि पतिव्रता को मृत्यु का भय नहीं सताता। पति पर पूरा विश्वास धरकर वे खुशी से सती हो जाती है।

किन्तु योगी को मृत्युका भय सताता है। प्राणायाम में प्राणों की घबराहट होगी और शायद शरीर भी गिर पड़ेगा इस भय से योगी 'प्राणायाम' 'नियमित' करते हैं। वे यह नहीं जान पाते कि भगवान का ध्यान हृदयसे धारन करते ही जब मृत्यु प्राप्त होगी तब ही मुक्ति मिलेगी, भगवद्रूपता प्राप्त होगी। अतः योगियों की अपेक्षा पतिव्रता इस बारे में एक कदम आगे जान पड़ती हैं।

२. भागवत में यज्ञपत्नियों के आख्यान में एक कथा है कि एक ब्राह्मण ने अपनी पत्नी को श्रीकृष्ण के पास जाने नही दिया। किन्तु इस मनाही को वह सहन नहीं कर सकी, उसने उसी क्षण देहत्याग कर दिया और वह दिव्य रूप में श्रीकृष्ण में जाकर विलीन हो गई।

३. पतिव्रता और गोपियों के उदाहरण से भी भगवान का ध्यान करें तो मृत्यु के बाद भगवत्-प्राप्ति होती है यह स्पष्ट हो रहा है। किन्तु महाराज कहते हैं कि बड़े आश्चर्य की बात है कि योगियों को मृत्यु से भय लगता है।[५५]

उसके बाद योग और भक्ति के बीच के सूक्ष्म भेद को महाराज बतलाते हैं। स्त्री गीतों में जो सूक्ष्म भेद उन्होंने दिखलाए हैं वे मार्मिक हैं-

१. करने में प्रायाणाम। घबराता है जीव।

गोविन्द का नाम लिया अलि। एक होते जीव हिव [५६]

प्राणायाम से तो प्राण घबराते हैं किन्तु भक्ति से जीव और शिव का मिलन होता है।

२. विषयों को समेटकर योग करने में बहुत कष्ट होते हैं किन्तु हरिनाम लेते ही सारा विश्व ही ब्रह्ममय जान पड़ता है।

३. योगियों का मन पर विषयों का प्रभाव रहता है तो भक्तों को विषयों का अहसास ही नहीं होता (विषय ही जिनके हुए नारायण)

४. निर्गुण का स्मरण करते समय विषय आड़े आते हैं और सगुण भक्ति में विषय ही भगवान के रूप ले लेते हैं।

५. अजपाजप करते समय अकेला प्राण उनमें उलझ पड़ता है और प्रेम से नाम स्मरण करने में प्राण और वाचा दोनों मग्न होते हैं।

६. योगियों की समाधि व्युत्थान में भंग हो जाती है तो भक्ति में भगवान का सगुण रूप बाहर भीतर, सब ओर दिखलाई देता है और समाधि में व्यत्यय नहीं आता।

७. ✻ योग से निर्गुण, भक्ति से सगुण [५७]

✻ ज्ञान से प्रत्यय और भक्ति से प्रत्यभिज्ञान मिलता है अर्थात् आनंद का अनुभव होता है और आनंद का बार-बार स्फुरण होता है।

✻ योग से स्तब्धता और भक्ति में भले ही रूप में गद्गद हो जाते हैं।

इस तरह से भक्ति से ज्ञान व प्रेम दोनों कृष्ण ब्रह्म में अर्पित होते हैं।

८. बलपूर्वक यदि मन को योग में रत किया जाए तो कष्ट होता है और प्रेम उत्पन्न होते ही मन स्वयं ही वहाँ दौड़ पड़ता है। अतः श्री हरि के चरणों के बिना योग में समाधान नहीं मिल सकता।[५८]

९. योगी इंद्रियों को कैद करते हैं और दुःखी बनते हैं। भक्त भगवान में अपने इंद्रिय अर्पण करके नित्य मुक्त रहते हैं।

१०. सारे संसार के प्रति द्वेषभाव रखकर अकेलापन (एकाकीपन) (कैवल्य) प्राप्त करने पर ही योगध्यान करने का अधिकार मिलता है। ऐसा

भक्ति में नहीं होता। सारे जीवों में श्रीकृष्ण को ही देखें और लोगों में अकेले में, हृदय में भी शांति प्राप्त कर रहें।[५९]

११. मृत्यु के समय योगी आसन जमाते है, प्राणायाम करते है और अपने प्राण ब्रह्मरंध्र में ले जाते हैं। उसे बड़ी ही अचूक रीति से करना होता है तभी मोक्ष प्राप्त होता है।

किन्तु भक्त को ऐसा कुछ करना ही नहीं पड़ता। ईश्वर को प्रेम से स्मरण करते ही वे उसके शरीर से अतीत हो जाते है। काहँ का जन्म और कहाँ का मरण! ये सभी भाव मिथ्या हैं ऐसी प्रतीति उन्हें मिलती है।[६०]

१२. निगुर्ण ध्यान से चैतन्य का पता चलता है।

सगुण ध्यान से चैतन्य और आनंद दोनों की प्राप्ति होती है। भक्ति से मैं-भाव क्षीण होता है। अहंकार लुप्त हो जाता है और सुषुप्ति-सा अज्ञान भी नष्ट होता है।[६१]

१३. योगी मन को जीतने के लिए मृदुसंवेगों से प्रारंभ करते हैं। उसमें कर्णतंत्र ध्यान के लिए प्रयत्न करना होता है।

भक्ति में चित्त खींचता है और वहाँ एकदम मध्यसंवेग होता है अतः योग का आरंभ मृदुसंवेग से तो भक्ति का मध्यसंवेग होता है ।[६२]

१४. योग में संवेग तीव्र होते ही योग समाप्त हो जाता है अर्थात् योग में आचरण की आवश्यकता शेष नहीं रहती।

भक्ति तीव्र संवेग के बाद भी बनी रहती है।[६३] स्वभावो भजनं हरेः।

१५. योग को ईश्वरप्रणिधान रूप भक्ति की आशा है, भक्ति को योग की आशा नहीं।[६४]

१६. केवल योग से चितावृत्तियाँ निःशेष शमित नहीं होतीं, व्युत्थान में वे पुनः उठ खड़ी होती हैं। भक्ति में चित्तवृत्तियाँ सहज शमित हो उठती हैं और व्युत्थान में भी भगवत्प्रेम के साथ ही ऊपर उठती हैं।[६५]

१७. योग से वैराग्य प्राप्ति के लिए हमेशा विषयदोषदर्शन करना ही चाहिए। अतः विषयों के प्रति द्वेष भाव हठ-मूल होता है। यह क्लेश दुःख ही

कहलाता है।

भक्ति में द्वेष उत्पन्न नहीं होता, प्रेम भाव से विषय ही भगवान को अर्पित करते हैं। इसमें स्वयं ही वैराग्य प्राप्त होता है और भगवान को भोग लगाने (अर्पण) से हमारा ही आनंद दुगुना हो उठता है। 'तत्सुखसुशित्वम्' प्राप्त होता है।

१८. योग से 'काष्ठ समाधि' और भक्ति से 'चैतन्यानंद समाधि' प्राप्त होती है। इस प्रकार से योग और भक्ति के भेदों को हमने जाना। महाराज ने सूक्ष्म भेदों को बताने के साथ-साथ उसके साथ ही उन्होंने योगशास्त्र का वेदांत से समन्वय भी बतलाया है। वह इस प्रकार है-

समन्वय

सांख्य-योग-ज्ञान-भक्ति

१. परमेश्वर प्राप्ति के तीन साधन हैं।- उरपति, बोध और विराग।

* योग से इंद्रिय शमित होती है।

* सांख्योक्त विवेक से जड़ भोगों के प्रति अनासक्ति उत्पन्न होती है।

* वेदांत के महावाक्यों से ब्रह्मबोध होता है।

* अन्ततः गुरुभक्ति, शिवभक्ति और कृष्णभक्ति से सभी बाधाएँ दूर होकर भगवद्प्राप्ति होती है।[६६]

२. सांख्य, योग और वेदांत का विचारपद्धति की दृष्टि से प्रधान सार रूप जाना जाए तो सांख्य द्वारा 'त्वं' पदार्थ शोधन, योग से तत्पदार्थ की खोज और वेदान्त से दोनों में एकता प्राप्त हो सकती है।

फिर भी आनुषंगिक रूप से हर शास्त्र में इन तीन पदों का विचार आया ही है।[६७]

३. योग से स्थिरबुद्धि चित्त की एकाग्रता, ज्ञान से साक्षी भाव और भगवान के सगुण ध्यान से अन्वय भक्ति आकर सभी चिद्विलास के आनंद का प्रत्यय दिलाते है।[६८]

४. योगेन वासनारोधो, व्युत्थाने विश्वसत्यता।

निरासाय महच्छत्र वेदांत श्रुतिशासनम्।।४४।। (यष्टी ७, पृ.२१)

योग से वृत्तियों का निरोध होता है और समाधि प्राप्त होती हैं उससे दुःख शांत हो जाता है और फिर समाधि से वृत्ति के उठ जाने पर जग की सत्यता जान पड़ती है और फिर से दुःख प्राप्त होता है। जग की सच्चाई पर एक बार विश्वास हो जाने पर भी कितने ही दिन समाधि क्यों न लगाई जाए, जागने पर जग सत्य ही जान पड़ता है। अतः जग की असत्यता को साबित करने का कार्य सांख्य और योग से नहीं किया जाता।

इस जग की सच्चाई को समाप्त करने का जिस एक मात्र अचूक शास्त्र का प्रयोग किया गया है वह है श्रुतिमात्य द्वारा पठित वेदांतशास्त्र अतः चित्त का ब्रह्माकार रूप होना यह कार्य ध्यान से न होकर प्रेम से संपन्न होना चाहिए।

* ध्यान से अपने चित्त को ब्रह्मरूप बनाना, योग है।
* ज्ञान से अपने चित्त को ब्रह्मरूप बनाना वेदांत है।
* परमप्रेम भाव से अखंड ब्रह्मरूप पाना यह भक्ति है।[६९]

निष्कर्ष

इस तरह हम यह देखते हैं कि सांख्य, योग वेदांत और भक्ति ये सभी एक दूसरे के पूरक हैं। उनमें जो विरोध दृष्टिगत होता है वह धरातल का है, अंतर्गत नहीं। इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को महाराज अपने साहित्य में बार-बार कहते हैं। साधक होने पर वैराग्य से योग आचरित कर परमप्राप्ति कर लें और यदि पहले ही ज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है तो प्रारब्ध को अभिभूत करने के लिए या कई जन्मों के प्रारब्ध का एक साथ उपयोग करने के लिए योग का आश्रय लेना चाहिए। यही कुछ मार्गदर्शनपुरक तत्त्व हैं जो महाराज के साहित्य में यहाँ-वहाँ बिखरे मिल जाते हैं। आसान शब्दों में मर्म को व्यक्त करना, महाराज की शैली प्रशंसनीय है। योग के समान दुख विषय योग प्रभाव ग्रंथ में सुबोध रीति से बतलाया गया है अतः सामान्य वाचक में भी योग के प्रति जिज्ञासा कुछ अंश में तृप्त होती है और आधुनिक योगी योग के बारे में जो कुछ भला-बुरा कहते हैं, उसका सार या असार कहिए, वह भी महाराज के योग विवेचन से सहज स्पष्ट होता

है। योग संबंधी अनेक भ्रम दूर हो जाते है। कुंडलिनी, चक्र, आदि के बारे में सच्ची जानकारी मिलती है। वेदांत की अपौरुषेयता, समाधि से सर्वज्ञता आदि के बारे में महाराज के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। उनके अध्ययन से प्राचीन शास्त्रों का अध्ययन करते समय अपेक्षित समन्वय की दृष्टि अभ्यासकों को दिलाने में महाराज ने यश प्राप्त किया है।

संदर्भ

१. योगप्रभाव, पृ. १३३
२. २. योगप्रभाव, पृ. ५
३. ३. निदिध्यासन प्रकाश अ.६ ओव्या ४६-५१ य १, पृ.१३३
४. ४. योगप्रभाव, पृ. ८
५. ५. पत्र यष्टि १२, पृ. १५५
६. साधुबोध, य ५४, पृ. १२१
७. ७. सांख्यसुरेन्द्र य. १४, पृ. २०४
८. ८. य. ७ पत्र २७, पृ. १९५
९. ९. योगप्रभाव, ओव्या २३-२४, य. १५, पृ. ८२१
१०. १०. योगप्रभाव ओव्या ३४, य. १५, पृ.८३
११. ११. योगप्रभाव ओव्या ६६. पृ. ८५
१२. १२. पत्र, य १२, पृ. ८६
१३. १३. पत्र, य ७, पृ. १९६
१४. १४. पदांची गाथा, य ९, उत्तरार्ध पृ. ३५८
१५. १५. योगप्रभाव, य. १५, पृ. ९५-९६
१६. १६. योगरहस्य, पृ. १९-२०-२१
१७. १७. योगप्रभाव, पृ. २७१
१८. १८. योगप्रभाव, पृ. २७९
१९. १९. योगरहस्य कुंडलिनी जगदंबा-ओवी ६-२३
२०. २०. योगप्रभाव गद्य, पृ. २८५
२१. योगप्रभाव, पृ. १२७
२२. पत्र २७, व ७, पृ. १९३
२३. य. ७, पृ. १९३
२४. य. ७ पृ. १९५
२५. यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि-

यह योग के आठ अंग है।

२६. ध्यानयोग दिवाकर अ. १. अबीफ ७-१४

२७. हिरण्ययोग अ. ४, ओवीफ ५६

२८. आदिष्टिवान् यथा स्वप्ने रामरक्षामिमां हर। तया लिखितवान् प्रातः प्रबुधबुधकोशिकः ११

२९. हिरण्ययोग अ. ६ ओवी ६५

३०. हिरण्ययोग अ. ३ ओवी २४-२५

३१. हिरण्ययोग अ. ४ ओवी ९१

३२. योगप्रभाव, पृ. २३

३३. योगप्रभाव, पृ. २४

३४. योगप्रभाव, पृ. २४

३५. येथे समाधिशब्दार्थ। ध्यातृध्येयैक्य परमार्थ। की जीवेश्वरभेद समाप्त। व्युत्थनीहि जयाचा।६४। ऐसे आधिकारिक। ज्ञानी भगवदुपासक। भक्तिवाचूनी दुष्ट दुःख। ज्ञानी ही भोगिनी।।६५।।-गीता संगति द. १, पृ.८५

३६. प्रियलीला महोत्सव आगमनविलास अ.६, य. ३, पृ. ८४

३७. पुत्रादिरूपा गौणीभक्ति विरहिनीरूपा परमप्रीती। ही नारदीय भवनी। महावाक्यार्थ स्प्रित असे।।६४।। भक्तिपद तीर्थामृत अ.१

३८. हे दोन्ही प्रमाणवचन। ताटस्थ्या निषेधीति पूर्व। ते जावया कारण। भक्ति संपन्न अन्वये।।३।। तेचि उठलिया वृत्ती। जी रूपमयवृत्ति। ती ब्रह्मरूप अनध्यस्ती। विवर्ती सांपडे।।ध्यानयोग दिवाकर, य.१ पृ.७५

३९. पत्र १०, य. १, पृ. ५७

४०. योगप्रभाव, पृ. ४५१-४५६

४१. समाहितात्मनो। ब्रह्मन ब्रह्मणः परमेष्ठिनः हृद्याकाशदमुन्नादो वृत्तिराधाद्विभाव्यते।।३७।। ततो भूत त्रिवृत्तिकारो यो व्यक्त प्रभवः स्वराट्। यत्तल्लगं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः।।३८।। स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षात् वाचकः परमात्मनः स सर्वमंत्रोपनिषदद्वेदबीजं सनातनम्।।४१।। ततो क्षरसमाम्नायमसृजद् भगवानजः।।४३।। तेनासौ चतुरोवेदांश्चतुर्भिवदनैर्विभुः।।११४।। भागवत।

४२. योगप्रभाव, पृ. ७१

४३. ....जो परमेश्वर हृदयनायक तो अनाहत नाही सम्यक्। उपजवी श्रुती।।४३३।। तो प्रणव एक वेदू। तत्पर त्वद्‌गतसमाष्टि स्वप्नलोक संबंध। स्वाधिष्ठान चक्री ब्रह्मा विनोई।। चारी वेद जे सांगे।।४३४।। तेचि ब्रह्मदेनच्या मुखे करुन बोलिजे चतुर्वेद निर्माण कवा कुंभक करताधणि ब्रह्मयाचे ध्यान। हृदयी बोलिले योगशास्त्री।।४३५।। लेय जे अनादृतनाहाच स्थिति। सहावे अभ्याची तात सांगती। तेथ जी होय शब्दोध्यति।

त्या ज्या श्रुती त्वद् सामी।।४३६।। तूचि तयांचा वक्ता न्याय। परी हा अवध्य त्वत्समष्टयंश। तूं एक आपणास। देह भानिसी म्हणेनि।।४३७।। ते ४४१ संप्रदाय सुरतरु अ. ८ पृ. २७३

४४. योगप्रभाव ३८

४५. प्रियलीलामहोत्सव अ. ८, य. ३, पृ. ८८

४६. योगप्रभाव औविफ अ. ८, य. ३, पृ. ८८

४७. उपायासी जरि विकल्पता। तरी फल आहे परमसाम्यता। यालागी ईश्वराधवा गौणता। शंकता नय।।१०९।। रोगी वैया शनें न उठोनी। तरी जीवने पाजादे। आन मोची। तेये माय कुष्णाहावी। न्यूनता घटे।।१०।। तैया निजप्रयत्नी जो असमर्थ। निर्गुणी न प्रदेशे जयाचे चित्तं। तयासी 'वा' शब्दे विकल्पित। ईश्वराधन बोलिले मुरी।।१११।। योगप्रभाव य.१५, पृ.८८

४८. य. १४, पृ. ६५

४९. य १४, पृ. १०७

५०. य. १४ पृ. १०६

५१. म्हणोनि निजरामेरुराराधान। हे करणे लागे प्रयते करुन। याचिलागी। योगसाधन प्रथम बोलिले सूत्र भाष्यी।।१०५।। परी विरक्ती असोनी। अधीर दीन अंतः करलीं। तो आलभिन्न परेथ मानोनी। प्रणिधान करी ते योग पावे।।१०६।। पृ. ८८, योगप्रभाव, य. १५, अ.२

५२. योग प्रभाव, पृ. ६०-६१

५३. निदि. प्रकाश अ. ६, ओवी २७-४१, य. १, पृ. १२६।

५४. योगिनापि सर्वेषां सद्गतेनान्तरात्मा श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्तोतमो मतः। ११ गीता अ.६।

५५. रुक्मिणी पत्रिका अ. ४, ओवियां ६०-७५ य. १, पृ, १०९-११०

५६. स्त्री गीत ५८९, य. ४, पृ. ५८

५७. योगमार्गाने जाणावे निर्गुण। रसाने सगुण भोगावे की।।१।। ज्ञान तो प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञा भक्ति। श्रोतृवक्तृचिती रसयोग।।३।। योगाने स्तब्धता, रसाने सगद्गद्। ज्ञान प्रेम शुद्ध कृष्णचि ब्रह्मी।।४।। अभंग ८६६, य. पृ.१८६

५८. प्रियलीलामहोत्सव य. १४. पृ. ६५

५९. य. १४, पृ.६५

६०. प्रियलीलामहोत्सव ओवियाँ ४३६-४३८, य. १४, पृ.१५७

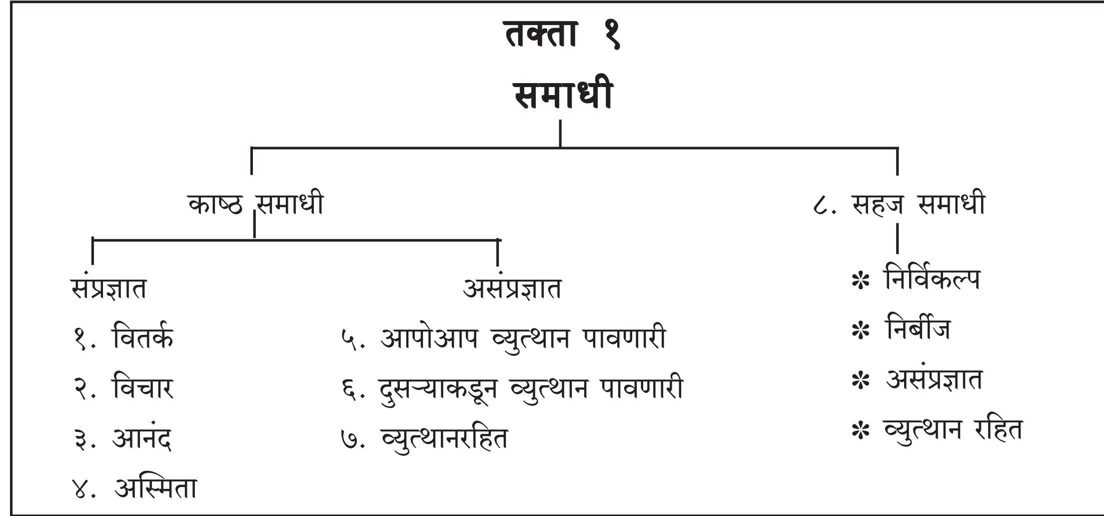
६१. ओविफ ४१-४२ य. १, पृ. १५७

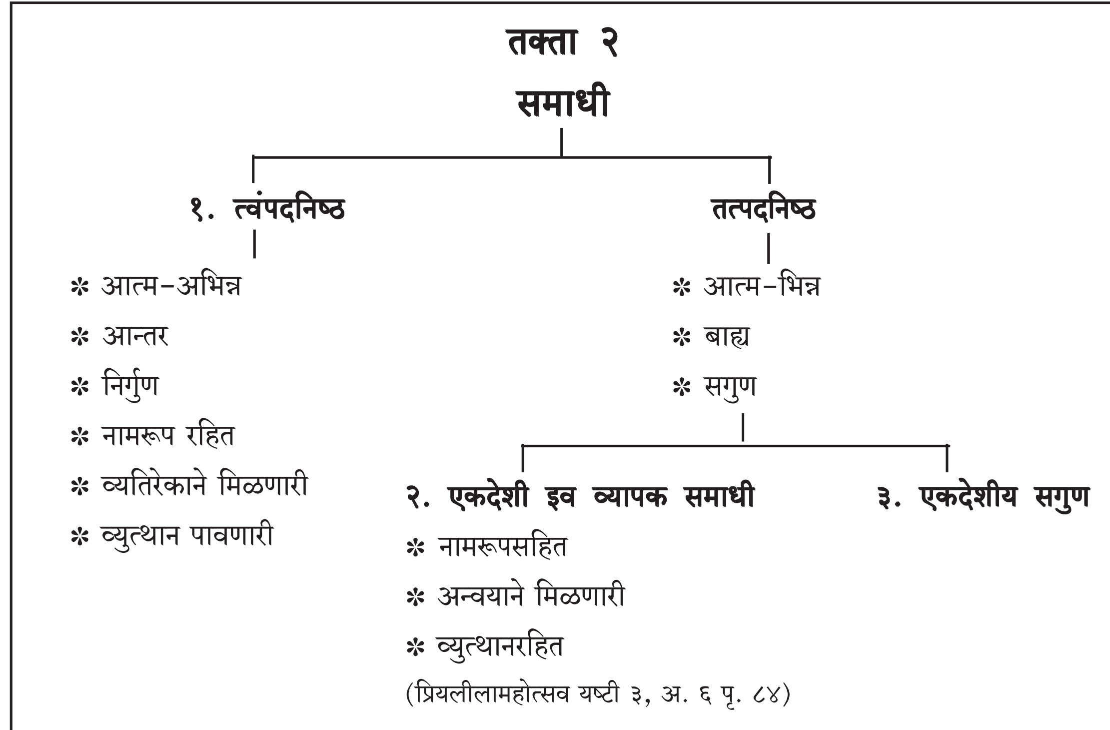
६२. य. अ, पृ.८३

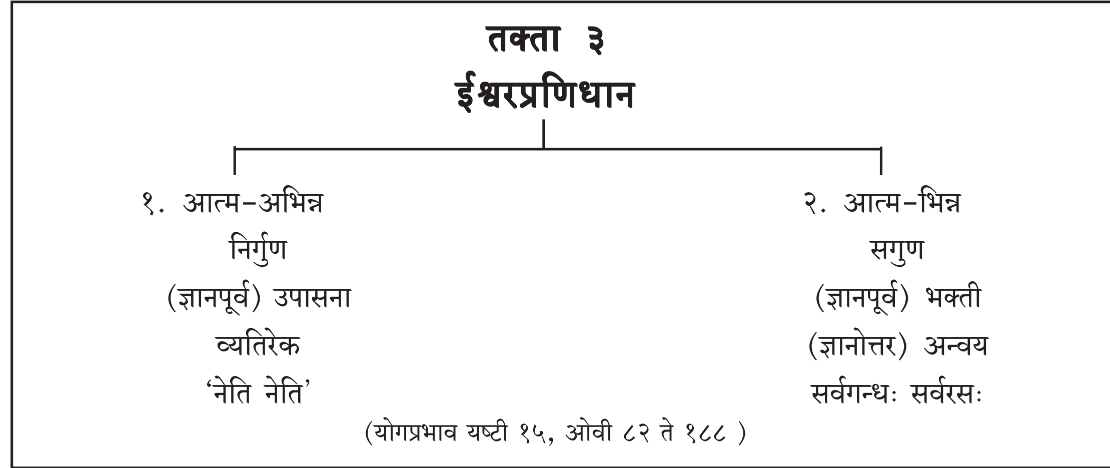
६३. य. ३, पृ. ८३

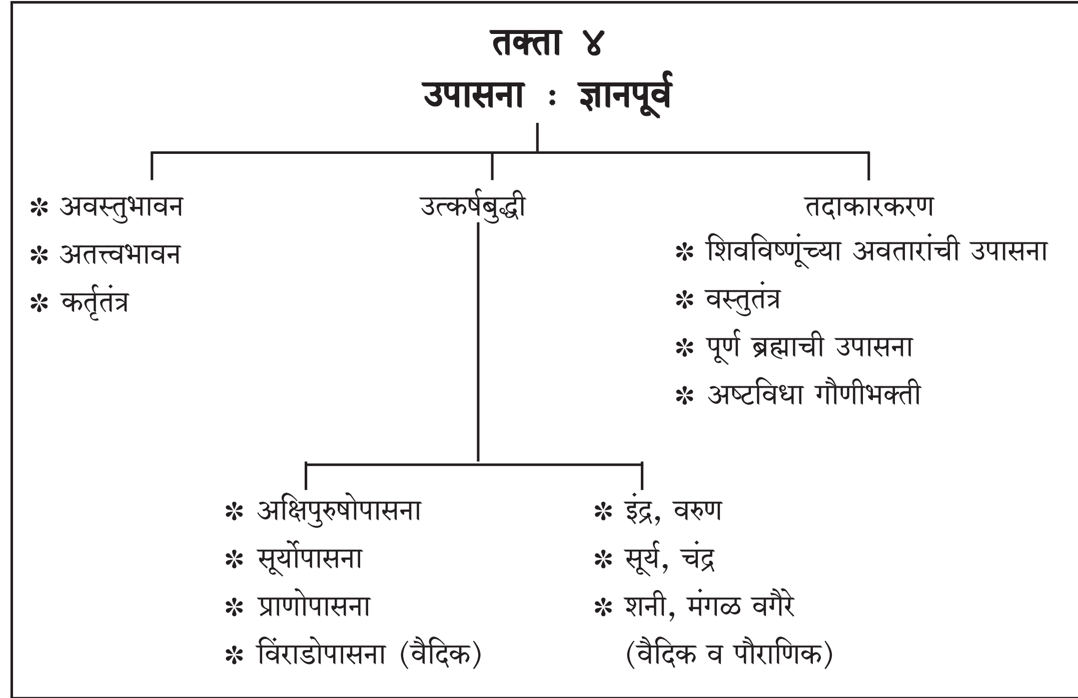
६४. योगप्रभाव, पृ. ४२

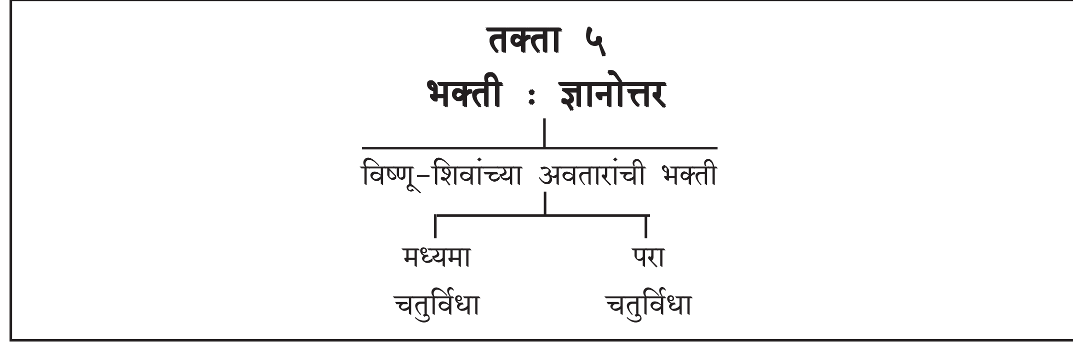
६५. प्रि. ली. अ. ७, ओवी ५९ य. ३, पृ.८८
६६. य. २, उ. पृ. ४८ पत्र १९
६७. अली. व्याख्याने पृ. ७२
६८. य. ४ स्त्री गीत ६४०
६९. य. पृ. २२

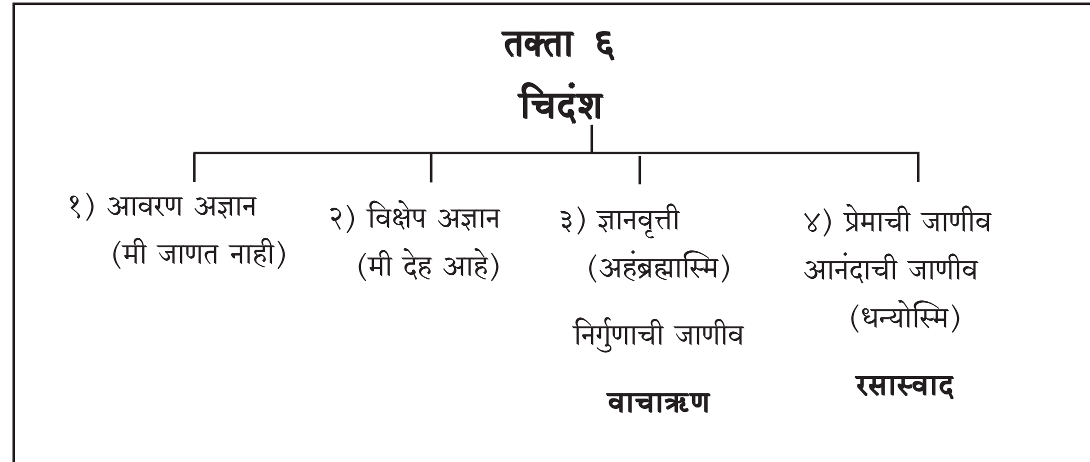

तक्ता १
समाधी
काष्ठ समाधी
८. सहज समाधी
संप्रज्ञात
१. वितर्क
२. विचार
३. आनंद
४. अस्मिता
असंप्रज्ञात
५. आपोआप व्युत्थान पावणारी
६. दुसऱ्याकडून व्युत्थान पावणारी
७. व्युत्थानरहित
✼ निर्विकल्प
✼ निर्बीज
✼ असंप्रज्ञात
✼ व्युत्थान रहित

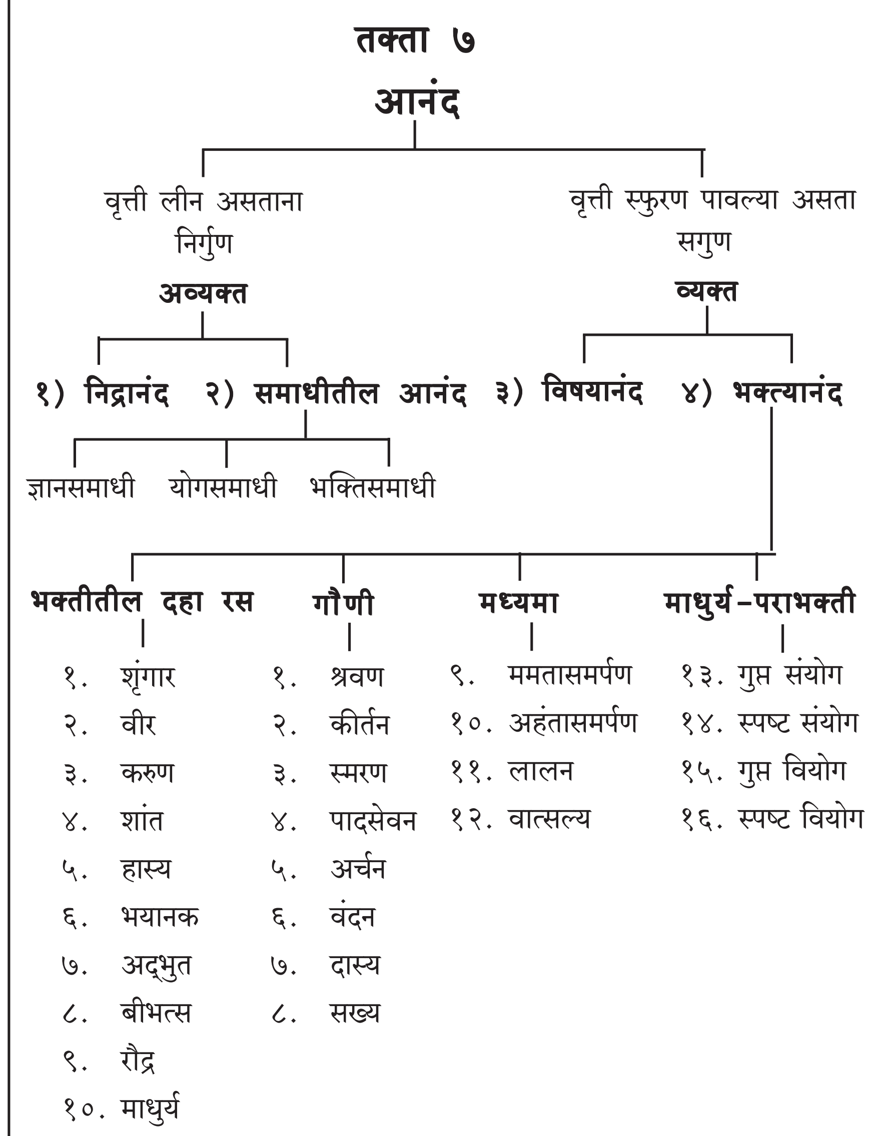

तक्ता २
समाधी
१. त्वंपदनिष्ठ
✻ आत्म-अभिन्न
✻ आन्तर
✻ निर्गुण
✻ नामरूप रहित
✻ व्यतिरेकाने मिळणारी
✻ व्युत्थान पावणारी
तत्पदनिष्ठ
✻ आत्म-भिन्न
✻ बाह्य
✻ सगुण
२. एकदेशी इव व्यापक समाधी
✻ नामरूपसहित
✻ अन्वयाने मिळणारी
✻ व्युत्थानरहित
३. एकदेशीय सगुण
(प्रियलीलामहोत्सव यष्टी ३, अ. ६ पृ. ८४)


तक्ता ३
ईश्वरप्रणिधान
१. आत्म-अभिन्न
निर्गुण
(ज्ञानपूर्व) उपासना
व्यतिरेक
'नेति नेति'
२. आत्म-भिन्न
सगुण
(ज्ञानपूर्व) भक्ती
(ज्ञानोत्तर) अन्वय
सर्वगन्धः सर्वरसः
(योगप्रभाव यष्टी १५, ओवी ८२ ते १८८)


तक्ता ४
उपासना : ज्ञानपूर्व
✻ अवस्तुभावन
✻ अतत्त्वभावन
✻ कर्तृतंत्र
उत्कर्षबुद्धी
तदाकारकरण
✻ शिवविष्णूंच्या अवतारांची उपासना
✻ वस्तुतंत्र
✻ पूर्ण ब्रह्माची उपासना
✻ अष्टविधा गौणीभक्ती
✻ अक्षिपुरुषोपासना
✻ सूर्योपासना
✻ प्राणोपासना
✻ विंराडोपासना (वैदिक)
✻ इंद्र, वरुण
✻ सूर्य, चंद्र
✻ शनी, मंगळ वगैरे
(वैदिक व पौराणिक)


तक्ता ५
भक्ती : ज्ञानोत्तर
विष्णू-शिवांच्या अवतारांची भक्ती
मध्यमा
चतुर्विधा
परा
चतुर्विधा


तक्ता ६
चिदंश
१) आवरण अज्ञान
(मी जाणत नाही)
२) विक्षेप अज्ञान
(मी देह आहे)
३) ज्ञानवृत्ती
(अहंब्रह्मास्मि)
निर्गुणाची जाणीव
वाचाऋण
४) प्रेमाची जाणीव
आनंदाची जाणीव
(धन्योस्मि)
रसास्वाद



तक्ता ७
आनंद
वृत्ती लीन असताना
निर्गुण
अव्यक्त
वृत्ती स्फुरण पावल्या असता
सगुण
व्यक्त
१) निद्रानंद
२) समाधीतील आनंद
३) विषयानंद
४) भक्त्यानंद
ज्ञानसमाधी
योगसमाधी
भक्तिसमाधी
भक्तीतील दहा रस
१. शृंगार
२. वीर
३. करुण
४. शांत
५. हास्य
६. भयानक
७. अद्‌भुत
८. बीभत्स
९. रौद्र
१०. माधुर्य
गौणी
१. श्रवण
२. कीर्तन
३. स्मरण
४. पादसेवन
५. अर्चन
६. वंदन
७. दास्य
८. सख्य
मध्यमा
९. ममतासमर्पण
१०. अहंतासमर्पण
११. लालन
१२. वात्सल्य
माधुर्य-पराभक्ती
१३. गुप्त संयोग
१४. स्पष्ट संयोग
१५. गुप्त वियोग
१६. स्पष्ट वियोग